जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायी

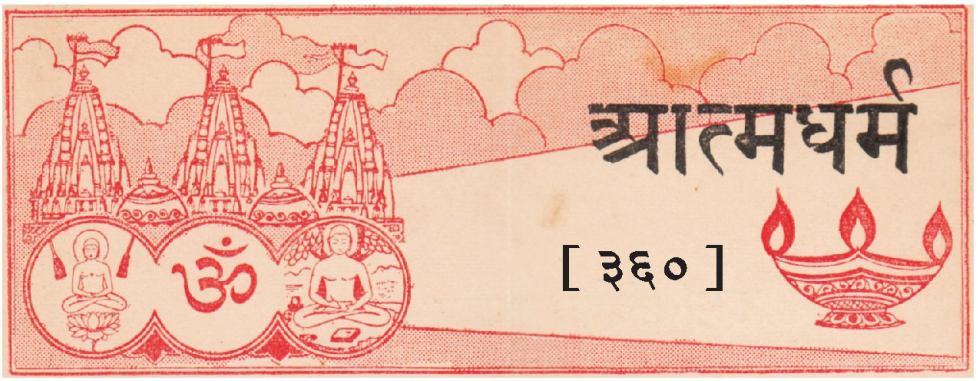

आत्मा में धर्मचक्र का परिणमन चालू करो

अतीन्द्रिय आनंद की तीव्र चाहनावाला जिज्ञासु जीव, संसारदु:ख से त्रस्त होकर अत्यंत विरक्त हुआ है। संसार का झंझट छोड़कर अंतर में आत्मशांति प्राप्त करना—यही एक उसका ध्येय है। दुनिया के क्लेशों से अत्यंत थका हुआ उसका चित्त आत्मशांति को अपने भीतर निकट में ही देखकर उस तरफ बहुत उल्लसित होता है। जैसे वियोगी बालक अपनी माँ को देखते ही आनंद से उल्लसित होकर दौड़ता हुआ उससे भेंटता है; वैसे आत्मशांति के प्यासे मुमुक्षु का चित्त आत्मा को देखकर आनंद से उल्लसित होता है और शीघ्र ही अंतर में जाकर उसकी भेंट करता है—अनुभूति करता है। वह मुमुक्षु दूसरे ज्ञानी की अनुभूति की बात परम प्रीति से सुनता है;—अहो, ऐसी अद्भुत आत्मअनुभूति! इसप्रकार परम उत्साह से वह अपने स्वकार्य को साधता है, उसके आत्मा में धर्मचक्र चालू हो जाता है।

साधर्मी बंधुओं! वीर निर्वाण के ढाई हजार वर्षीय इस महोत्सव में ऐसी मंगल ज्ञानदशा प्रगट करके आत्मा में धर्मचक्र का प्रारंभ कर दो और प्रभु महावीर के मार्ग में आ जाओ।

—जय महावीर

तंत्री–**पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार** * संपादक : **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन**
वीर सं० 2501 फाल्गुन (चन्दा : वैशाख से छह रुपये) वर्ष 30 : अंक 11

—: नये प्रकाशन :—

१. आत्मावलोकन (ब्रह्मचारी दुलीचंदजी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित)	३=००
२. तत्त्वज्ञान तरंगिणी (ब्रह्मचारी दुलीचंदजी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित)	५=००
३. छहढाला (मूलमात्र) (ब्रह्मचारी दुलीचंदजी ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित)	०=३०
४. छहढाला (सचित्र)	१=५०
५. भगवान महावीर	०=१५

मिलने का पता :—
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म मासिक-पत्र के स्वामित्व आदि की घोषणा

प्रकाशन स्थान :— दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
प्रकाशन अवधि :— प्रत्येक अंग्रेजी माह की ५वीं तारीख
प्रकाशक :— श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
तंत्री :— श्री पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर (सौराष्ट्र)
संपादक :— ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
मुद्रक :— मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
राष्ट्रीयता :— भारतीय
स्वत्वाधिकार :— दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मैं घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

व्यवस्थापक—
ता. ३१-३-७५ श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

वीर सं. 2501
फाल्गुन
मार्च 1975

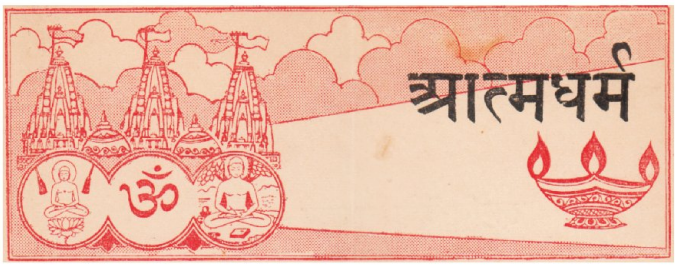

वर्ष 30 वाँ
अंक 11
[३६०]

सम्यक्दर्शन पावे... भवबंधन कट जावे

ज्ञानियों के थोड़े से सत्संग से भी मुमुक्षु के जीवन में सम्यग्दर्शन पाने की व आत्मकल्याण करने की कैसी भावनायें जागृत होती हैं, यह आप एक मुमुक्षु बहन के इस काव्य में पढ़ेंगे। आपने यह काव्य ब्रह्मचारी बहनों के साथ सोनगढ़ में गाया था। (संपादक)

सम्यक्दर्शन पावे... भव बंधन कट जावे।
आत्मकल्याण करके... जीव मोक्षसुख पावे...॥ सम्यग्०

स्व-पर का ज्ञान करके, जीव-अजीव पहिचान करके।
कर ले तू आत्मकल्याण कर ले... सम्यग्दर्शन पावे॥

साचा देव-गुरु-धर्म रे, और तत्त्वों का श्रद्धान रे।
कर ले तू आत्म चिंतवन रे... सम्यग्दर्शन पावे॥

पाप और पुण्य हेय है, समकित की जय है।
पा ले तू सम्यग्दर्शन रे..... सम्यग्दर्शन पावे॥

सम्यग्दर्शन की महिमा, है अपरंपार रे।
सब जीवों का होगा इसी से मुक्ति मार्ग रे॥ सम्यग्०

सम्यग्दर्शन की महिमा, प्रभु वीर ने दरसायी।
सब जीवों को अहा, मुक्ति की राह दिखाई॥

सम्यग्दर्शन पावे भव-बंधन कट जावे...

श्रावक के कर्तव्य का उपदेश
सच्ची जिनभक्ति में वीतरागता का आदर

धर्मी के थोड़े शुभभाव के पुण्य का भी महान फल है—तो फिर इसकी शुद्धता की महिमा की तो क्या बात! जिसको अपने अंतर में वीतरागभाव इष्ट लगा, उसे वीतरागता के बाह्य निमित्तों के प्रति भी कितना उत्साह हो! जिनमंदिर बनवाने की बात तो दूर रही परंतु वहाँ जिनमुद्रा का दर्शन करने जाने का भी जिसे प्रेम नहीं– उसे धर्म का प्रेम कौन कहे ? [—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन]

वीतरागी जिनमार्ग के प्रति श्रावक का उत्साह कैसा होता है और उसका फल क्या होता है, वह कहते हैं—(देशव्रतोद्योतन का २२वाँ श्लोक)

जो जीव भक्ति से छोटा सा भी जिनमंदिर बनवाता है, या उसमें जौ के दाने जितनी जिन-आकृति (जिनप्रतिमा) स्थापित कराता है, उसके महान पुण्य का वर्णन करने के लिये इस लोक में सरस्वती भी समर्थ नहीं; तो फिर जो जीव ऊँचे-ऊँचे जिनमंदिर बनवाता है और अतिशय भव्य जिनप्रतिमा को स्थापित करवाता है—उसके पुण्य की तो क्या बात!

देखो, इसमें 'भक्तिपूर्वक' की मुख्य बात है। मात्र प्रतिष्ठा अथवा मान-सम्मान के लिये अथवा देखादेखी से चाहे जितना खर्च कर दे, उसकी यह बात नहीं, परंतु भक्तिपूर्वक अर्थात् जिसे सर्वज्ञ भगवान की पहचान हुई है और अंतर में बहुमान पैदा हुआ है कि अहो, ऐसे वीतरागी सर्वज्ञदेव! ऐसे मेरे भगवान! ऐसे भगवान को मैं अपने अंतर में स्थापित करूँ और संसार में भी इनकी महिमा प्रसिद्ध हो—ऐसे बहुमान से भक्तिभावपूर्वक जिन-प्रतिमा और जिन-मंदिर बनवाने का भाव जिसे आता है, उसे उच्च जाति का लोकोत्तर पुण्य बँधता है; क्योंकि उसके भावों में वीतरागता का बहुमान हुआ है। भले ही प्रतिमा मोटी हो या छोटी, परंतु

उसकी स्थापना में वीतरागता का बहुमान और वीतराग का आदर है, यही उत्तम पुण्य का कारण है।

भगवान की मूर्ति को यहाँ 'जिनाकृति' कहा है अर्थात् अरहंत-जिनदेव की जैसी निर्विकार आकृति होती है, वैसी ही निर्दोष आकृतिवाली जिन-प्रतिमा होती है। जिनेन्द्र भगवान वस्त्र-मुकुट नहीं पहिनते और इनकी मूर्ति वस्त्र-मुकुट सहित हो तो इसे जिनाकृति नहीं कहते। 'जिन-प्रतिमा जिनसारखी भाखी आगम माँय।'—ऐसी निर्दोष प्रतिमा जिनशासन में पूजनीय है।

यहाँ तो कहते हैं कि अहो, जो जीव भक्ति से ऐसा वीतराग जिनबिम्ब और जिन-प्रतिमा कराता है, उसके पुण्य की महिमा वाणी से कैसे कही जा सकती है? देखो तो सही, धर्मी के अल्प शुभभाव का इतना फल! तो इसकी शुद्धता की महिमा की तो क्या बात!! जिसे अपने अंतर में वीतरागभाव रुचा, उसे वीतरागता के बाह्य निमित्तों के प्रति भी उत्साह आता है। इस संबंध में एक उदाहरण इसप्रकार आता है कि—एक सेठ जिनमंदिर बनवाता था, उसमें काम करनेवाले कारीगर के द्वारा पत्थर की जितनी रज निकलती, उसके वजन के बराबर चाँदी वह उसको देता था। सेठ के मन में ऐसा भाव था कि अहो, मेरे भगवान का मंदिर बन रहा है, तो उसमें कारीगरों को भी मैं प्रसन्न करूँ,—जिससे मेरे मंदिर का काम उत्तम हो। उस समय के कारीगर भी सच्चे हृदयवाले थे। वर्तमान में तो लोगों की वृत्ति में बहुत गड़बड़ हो गया है। यहाँ तो भगवान के भक्त श्रावक-धर्मात्मा को जिनमंदिर और जिन-प्रतिमा का कैसा शुभराग होता है, वह दिखाना है।

संसार में देखो तो, पाँच-दस लाख रुपयों की कमाई हो और लाख-दो लाख रुपये खर्च करके बंगला बनवाता हो तो कितनी होश करता है? कहाँ क्या चाहिये और किसप्रकार अधिक शोभा हो—इसका कितना विचार करता है? इसमें तो ममता का पोषण है। परंतु धर्मात्मा को ऐसा विचार आता है कि अहो, मेरे भगवान जिसमें विराजमान होनेवाले हैं, वह जिनमंदिर, उसमें क्या-क्या चाहिये और किस रीति से अधिक शोभा हो?—इसप्रकार विचार करके होश से (तन से, मन से, धन से) उसमें प्रवर्तन करता है। वहाँ व्यर्थ की झूठी बचत अथवा कंजूसाई नहीं करता। भाई, ऐसे धर्मकार्य में तू उदारता रखेगा तो तुझे ऐसा लगेगा कि

मैंने जीवन में धर्म के लिये कुछ किया है; मात्र पाप में ही जिन्दगी नहीं बिगाड़ी, परंतु धर्म की भावना के भी भाव किये हैं—इसप्रकार तुझे धर्म के बहुमान का भाव रहा करेगा। यही मुख्य लाभ है, और ऐसे भाव के साथ में जो पुण्य बँधता है, वह भी लौकिक दया-दान की अपेक्षा उच्च कोटि का होता है। एक मकान बाँधनेवाला कारीगर जैसे-जैसे मकान ऊँचा होता जाता है, वैसे-वैसे वह भी ऊँचा बढ़ता जाता है; उसीप्रकार धर्मी जीव जैसे-जैसे शुद्धता में आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसके पुण्य का रस भी बढ़ता जाता है।

जिन-मंदिर और जिन-प्रतिमा करानेवाले के भाव में कैसा अभिप्राय है?—इसके भाव में वीतरागता का आदर है और राग का आदर छूट गया है। ऐसे भाव से करावे तो सच्ची भक्ति कहलाती है; और वीतरागभाव के बहुमान द्वारा वह जीव अल्पकाल में राग को तोड़कर मोक्ष प्राप्त करेगा। परंतु वीतरागता की यह बात लक्ष्य में लिये बिना, ऐसे ही कोई कह दे कि तुमने मंदिर बनवाया, इसलिये तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा, तो यह बात सिद्धांत की नहीं है। भाई, श्रावक को ऐसा शुभभाव होता है, यह बात सत्य है, परंतु इस राग का जितना फल हो, इतना ही कहना चाहिये। इस शुभराग के फल से उच्च कोटि का पुण्य बँधने का कहा है, परंतु उससे कर्मक्षय होने का भगवान ने नहीं कहा है। कर्म का क्षय तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव से ही कहा है।

अरे, सच्चा मार्ग और सच्चे तत्त्व को समझे बिना जीव कहीं न कहीं अटक जाता है। शास्त्र में व्यवहार के कथन तो अनेक प्रकार के आते हैं, परंतु मूल तत्त्व को और वीतरागभावरूप मार्ग को लक्ष में रखकर इनका अर्थ समझना चाहिये। शुभराग से ऊँचा पुण्य बँधता है—ऐसा बतलाने के लिये उसकी महिमा की, वहाँ कोई उसमें ही धर्म मानकर अटक जावे तो उसने शास्त्र का तात्पर्य नहीं समझा। कितने ही जीव तो जिनमंदिर में भगवान के दर्शन करने भी नहीं जाते। भाई, जिसे वीतरागता का प्रेम हो, और जहाँ जिनमंदिर का योग हो, वहाँ वह भक्ति से रोज दर्शन करने जाता है। जिनमंदिर बनवाने की बात तो दूर रही, परंतु वहाँ दर्शन करने जाने का भी जिसे भाव नहीं, उसे धर्म का प्रेम कौन कहे? बड़े-बड़े मुनि भी वीतराग प्रतिमा का भक्ति से दर्शन करते हैं और उसकी स्तुति करते हैं। पोन्नूर ग्राम में एक पुराना मंदिर है, कुन्दकुन्दाचार्यदेव जब उस ग्राम में आते, तब वहाँ दर्शन करने जाते थे। दक्षिण की

तीर्थयात्रा में हम लोगों ने वह मंदिर देखा है। समन्तभद्रस्वामी ने भी भगवान की अद्भुत स्तुति की है। एक यह बात प्रचलित है कि, करीब २००० वर्ष पूर्व किसी बड़े राजा को जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा करवानी थी, तब उसकी विधि के लिये शास्त्र रचने की आज्ञा कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अपने शिष्य जयसेन मुनि को दी; उन जयसेनस्वामी ने मात्र दो दिन में प्रतिष्ठा-पाठ की रचना की; इससे प्रसन्न होकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने उन जयसेनस्वामी को 'वसुबिन्दु' (अर्थात् आठ कर्मों का अभाव करनेवाले) ऐसा विशेषण दिया; उनका रचा प्रतिष्ठा-पाठ 'वसुबिन्दु' प्रतिष्ठापाठ कहलाता है। उसके आधार से प्रतिष्ठा की विधि होती है।

बड़े-बड़े धर्मात्माओं को जिनभगवान की प्रतिष्ठा का, उनके दर्शन का ऐसा भाव आता है, और कोई कहे कि मुझे दर्शन करने का अवकाश नहीं मिलता अथवा मुझे पूजा करते शर्म आती है!—तो तुझे धर्म की रुचि ही नहीं, देव-गुरु का सच्चा प्रेम ही नहीं। अरे! सिनेमा देखना इत्यादि पाप के काम में तुझे अवकाश मिलता है और यहाँ तुझे अवकाश नहीं मिलता—यह तो तेरा व्यर्थ का बहाना है। तथा जगत के पापकार्यों—कालाबाजार आदि के करने में तुझे शर्म नहीं आती और यहाँ भगवान के समीप आकर पूजा करने में तुझे शर्म आती है!! वाह, बलिहारी है तेरी औंधाई की! शर्म तो पापकार्य करने में आनी चाहिये, उसके बदले वहाँ तो तुझे होंश आती है और धर्म के कार्य में शर्म आने का कहता है,—परंतु वास्तव में तुझे धर्म का प्रेम ही नहीं है।

एक राजा की कथा आती है—वह राजा राजदरबार में आ रहा था, वहाँ बीच में किन्हीं मुनिराज के दर्शन हुए; भक्ति से राजा ने उनके चरण में मुकुटबद्ध सिर झुकाया... और पश्चात् राजदरबार में आया। वहाँ दीवान ने मुकुट पर धूल लगी देखी और वह उसे झाड़ने लगा। तब राजा रोककर कहते हैं कि—अरे दीवानजी! रहने दो... इस रज से तो मेरे मुकुट की शोभा है, यह रज तो मेरे वीतराग गुरु के चरण से पवित्र हुई है!—देखो, यह भक्ति!! इसमें राजा को शर्म नहीं आती कि मेरे बहुमूल्य मुकुट में धूल लग गई!—अथवा अन्य लोग मेरी हाँसी उड़ावेंगे! अरे, भक्ति में शर्म कैसी? भगवान के भक्त को भगवान के दर्शन बिना चैन नहीं पड़ती। यहाँ (सोनगढ़ में) पहले जिन-मंदिर नहीं था, तब भक्तों को ऐसा विचार आया कि अरे, अपने को यहाँ भगवान का विरह है, प्रभु के साक्षात् दर्शन तो नहीं, और उनकी प्रतिमा के भी दर्शन

नहीं!—इसप्रकार दर्शन की भावना उत्पन्न हुई। तब संवत् १९९७ में यह जिन-मंदिर बना। जिन-मंदिर में प्रतिष्ठित होते हुए भगवान को देखकर भक्तों को जो रोमांचकारी हर्षोल्लास हुआ है, उसकी तो कोई अनोखी कहानी है। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, भगवान के दर्शन से किसे प्रसन्नता नहीं होगी! और उनका जिनमंदिर तथा जिन-प्रतिमा स्थापन करावे, उसके पुण्य की क्या बात!! भरत चक्रवर्ती ने चतुर्थ काल में पाँच सौ धनुष की ऊँची रत्ननिर्मित जिनप्रतिमाएँ स्थापित करवाई थीं, उनकी शोभा की क्या बात!! वर्तमान में भी देखिये—बाहुबली भगवान की मूर्ति कैसी अद्भुत है! अहा, वर्तमान में तो इसकी कहाँ जोड़ नहीं है। नेमीचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती महान मुनि थे, उनके द्वारा इसकी प्रतिष्ठा हुई है; और इसके सामने की पहाड़ी (चन्द्रगिरि) पर एक जिनालय में उन्होंने गोम्मटसार की रचना की थी। बाहुबली भगवान की यह प्रतिमा गोम्मटेश्वर भी कहलाती है। यह तो सत्तावन फीट ऊँची है और इसकी मुद्रा का दर्शन अचिंत्य वीतरागता का प्रेरक है... पुण्य और पवित्रता दोनों की झलक उनकी मुद्रा ऊपर चमक रही है। और बाहुबली भगवान की अन्य एक अत्यंत छोटी (चने के दाने बराबर) रत्नप्रतिमा मूलबिद्री में है।—ऐसी प्रतिमा करवाने का उत्साह श्रावक-धर्मात्माओं को आता है, ऐसा यहाँ बताना है।

देखो, यह किसकी बात चलती है? यह श्रावक के धर्म की बात चलती है। आत्मा रागरहित शुद्धचैतन्यस्वरूप है, उसकी रुचि करके राग घटाने का अन्तरप्रयत्न, वह गृहस्थधर्म का प्रकाश करनेवाला मार्ग है। उसमें दान के वर्णन में जिन-प्रतिमा कराने का विशेष वर्णन किया है। जिसप्रकार, जिसे धन प्रिय है, वह धनवान का गुणगान करता है; उसीप्रकार जिसे वीतरागता प्रिय है, वह भक्तिपूर्वक वीतरागदेव का गुणगान करता है; उनके विरह में उनकी प्रतिमा में स्थापना करके दर्शन-स्तुति करता है। इसप्रकार शुद्धस्वरूप को दृष्टि में रखकर, अशुभ स्थानों से बचता है और शुभराग में प्रवर्तता है, ऐसा श्रावक-भूमिका का धर्म है।

कोई कहे कि शुद्धता, वह मुनि का धर्म और शुभराग, वह श्रावक का धर्म—तो ऐसा नहीं है। धर्म तो मुनि को अथवा श्रावक को दोनों को एक ही प्रकार का रागरहित शुद्धपरिणतिरूप ही है। परंतु श्रावक को अभी शुद्धता अल्प है, वहाँ राग के भेद जिनपूजा, दान आदि होते हैं, इसलिये शुद्धता के साथ के इन शुभकार्यों को भी गृहस्थ के धर्मरूप से वर्णन

किया है; अर्थात् इस भूमिका में ऐसे शुभभाव होते हैं। परंतु वह जानता है कि मोक्ष का कारण तो शुद्ध वीतरागभाव ही होगा, राग नहीं!

देखिये, नग्न-दिगम्बर संत, वन में बसनेवाले और स्वरूप की साधना में छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनि को भी भगवान के प्रति कैसे भाव उल्लसित होते हैं! वे कहते हैं कि—छोटा-सा मंदिर बनावे और उसमें जौ के दाने जितनी जिन-प्रतिमा की स्थापना करे—उस श्रावक के पुण्य की अपूर्व महिमा है! अर्थात् उसे वीतरागभाव की जो रुचि हुई है, उसके महान फल की क्या बात! प्रतिमा चाहे छोटी हो-परंतु वह वीतरागता का प्रतीक है न! इसकी स्थापना करनेवाले को वीतरागता का आदर है, उसका फल महान है। कुन्दकुन्दस्वामी तो कहते हैं कि—अरहन्तदेव को बराबर पहचाने तो सम्यग्दर्शन हो जावे। जिसे वीतरागता प्रिय लगी, जिसे सर्वज्ञस्वभाव रुचा, उसे सर्वज्ञ-वीतरागदेव के प्रति परमभक्ति का उल्लास आता है। इंद्र भी देवलोक से समवसरण में आकर तीर्थंकर प्रभु के चरणों की सेवा करते हैं... हजार-हजार आँख से प्रभु को देखते हैं—तो भी उन्हें तृप्ति नहीं होती। अहो, आपकी वीतरागी शांतमुद्रा, उसे देखा ही करूँ!—ऐसा लगता है। गृहस्थ की भूमिका में ऐसे भावों से ऊँची जाति का पुण्य बँधता है; उसे राग तो है, परंतु राग की दिशा संसार की तरफ से हटकर धर्म की तरफ हो गई है, इसलिये वीतरागता की भावना बनी रहती है! अहा, भगवान तो वीतराग होकर अपने स्वरूप में ठहर गये हैं, ज्ञातापने से जगत को साक्षीरूप देख रहे हैं और उपशम-रस की धारा बरस रही है।—उसकी द्योतक जिन-प्रतिमा है।—ऐसी निर्विकार वीतराग जिनमुद्रा का दर्शन करके वह अपने वीतरागस्वभाव का स्मरण और ध्यान करता है।

धर्मी का ध्येय वीतरागता है। जिसप्रकार चतुर किसान चारे के लिये नहीं बोता परंतु अनाज के हेतु बोता है; अनाज के साथ चारा भी बहुत होता है। उसीप्रकार धर्मी का प्रयोजन वीतरागता का है, राग का हेतु नहीं। चैतन्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक शुद्धता को साधते-साधते बीच में पुण्यरूपी ऊँचा घास भी बहुत पकता है। परंतु इस घास को कोई मनुष्य नहीं खाता; मनुष्य तो अनाज खाते हैं; उसीप्रकार धर्मी जीव राग को अथवा पुण्य को आदरणीय नहीं मानते, वीतरागभाव को ही आदरणीय मानते हैं। देखो, श्रावक की भूमिका में राग कैसा होता है और धर्म कैसा होता है—इन दोनों का स्वरूप इसमें आ जाता है।

ज्ञानी को धर्म सहित जो पुण्य होता है, वह ऊँची जाति का होता है; अज्ञानी का पुण्य भी नि:सार होता है; उसकी पर्याय में धर्म का दुष्काल है। जिसप्रकार उत्तम अनाज के साथ जो घास पकता है, वह घास भी रसवाला होता है; किंतु दुष्काल में अनाज के बिना जो अकेला घास पकता है, उसमें बहुत रसकस नहीं होता; उसीप्रकार जहाँ धर्म का दुष्काल है, वहाँ पुण्य भी हलका होता है, और धर्म की भूमिका में पुण्य भी ऊँची जाति का होता है। तीर्थंकरपना, चक्रवर्तीपना, इंद्रपना आदि का लोकोत्तर पुण्य, धर्म की भूमिका में ही बँधता है। गृहस्थों को जिनमंदिर, जिनबिम्ब बनवाने से तथा आहारदान आदि से महान पुण्य बँधता है, इसलिये मुनिराज ने उसका उपदेश दिया है। अविकृत स्वरूप के आनंद में झूलनेवाले संत—जो प्राण जावे तो भी झूठ नहीं बोले, और इंद्राणी आकाश से उतरकर प्रलोभन करे तो भी अशुभवृत्ति जिन्हें नहीं उठे—ऐसे वीतरागी मुनि का यह कथन है, जगत के पास से उन्हें कुछ नहीं लेना है, मात्र जगत के जीवों को लोभरूपी पाप के कुएँ से निकालने और धर्म में लगाने हेतु करुणापूर्वक दान का उपदेश दिया है। जिसका हृदय पत्थर जैसा हो, उसकी बात अलग है, परंतु फूल की कली जैसा कोमल जिसका हृदय होगा, वह तो इस वीतरागी उपदेश की गुंजार सुनते ही प्रसन्न होकर खिल जायेगा। जिसप्रकार उल्लू को अथवा घुग्घू को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता है, उसे तो अँधेरा अच्छा लगता है; उसीप्रकार चैतन्य का प्रकाश करनेवाला यह वीतरागी उपदेश जिसे नहीं रुचता, वह भी मिथ्यात्व के घोर अंधकार में पड़ा हुआ है। जिज्ञासु को तो ऐसा उल्लास आता है कि अहो, यह तो मेरे चैतन्य का प्रकाश करनेवाली अपूर्व बात है। तीन लोक के नाथ जिनदेव जिसमें विराजमान हैं, उसकी शोभा हेतु धर्मी भक्तों को उल्लास होता है। वादिराजस्वामी कहते हैं—प्रभो! आप जिस नगरी में अवतार लेते हैं, वह नगरी सोने की हो जाती है, तो ध्यान द्वारा मैंने मेरे हृदय में आपको स्थापित किया और यह शरीर बिना रोग के सोने जैसा बन जाये तो उसमें कौन सा आश्चर्य है! प्रभो, आपको आत्मा में विराजमान करते ही आत्मा में से मोहरोग नष्ट होकर शुद्धता न होवे, वह कैसे बने?

धर्मी श्रावक को, एवं धर्म के जिज्ञासु जैन को ऐसा भाव आता है कि अहो, मैं मेरे वीतरागस्वभाव के प्रतिबिम्बरूप इस जिनमुद्रा को प्रतिदिन देखूँ। जिसप्रकार माता को देखे बिना पुत्र को चैन न पड़े, उसीप्रकार भगवान के विरह में भगवान के दर्शन बिना भगवान के

पुत्रों को—भगवान के भक्तों को चैन नहीं पड़ता। धर्मी श्रावक भक्तिपूर्वक जिनशासन की प्रभावना करते हैं, जिन-मंदिर बँधवाते हैं, वीतराग जिनबिम्ब की स्थापना करते हैं और इसके कारण उन्हें अतिशय पुण्य बँधता है। चाहे छोटी सी वीतराग प्रतिमा हो परंतु उसकी स्थापना में त्रैकालिक वीतरागमार्ग का आदर है। इस मार्ग के आदर से ऊँचा पुण्य बँधता है।—इसप्रकार जिनदेव का भक्त धर्मी-श्रावक वीतरागभाव के प्रति अत्यंत बहुमान से उसके निमित्तरूप जिन-मंदिर तथा जिनबिम्बों की स्थापना कराते हैं और जहाँ जिन-मंदिर होता है, वहाँ सदैव धर्म के नये-नये मंगल-उत्सव होते रहते हैं; भगवान का धर्मचक्र चलता है।

तुम्हें भगवान होना प्रिय है तो भगवान का प्रतिबिंब प्रतिदिन देखो।

*** बताओ, यह सुंदर भूमि** [पहेली : लेखक : पुष्पेन्दु, खुरई]

एक भूमि है ऐसी जिस पर दु:ख के बीज अगर डल जावें।
तो भी उग नहीं पाते हैं, लेकिन शीघ्र वहीं जल जावें॥
बिना बोए ही ऊगा करते, जिसमें सुख के बीज हमेशा—
ऐसी ऊर्वर कौन भूमिका? जिसमें स्वयं सिद्ध फल आवे॥

[पहेली का उत्तर इसी अंक में कहीं अन्यत्र है।]

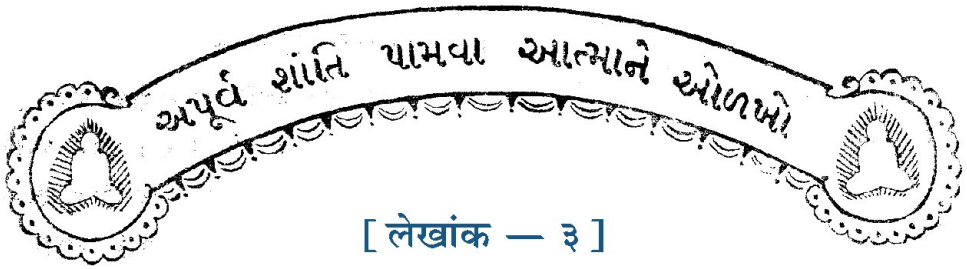

[लेखांक — ३]

❀ अपूर्व शांति पाने के लिये आत्मा को पहिचानो ❀

दुनियाँ में कहीं भी सच्ची शांति हो तो वह आत्मा में ही है, और आत्मा के जानने से ही उसका वेदन होता है। जिनमार्गी संतों ने ऐसी अपूर्व शांति प्राप्त की है, और ऐसी शांति के पिपासु भव्य जीवों से कहते हैं कि तुम भी ऐसी अपूर्व शांति को पाने के लिये आत्मा को पहिचानो। आत्मा की पहिचान करानेवाला एक सुगम शास्त्र 'समाधि शतक' है; उसके प्रवचनों का दोहन आप इस लेखमाला में पढ़ रहे हैं।

(—संपादक)

जो जीव बाह्यदृष्टिवाला अविद्वान है, जिसे जड़ और चेतन की भिन्नता का ज्ञान नहीं है, वह जीव मनुष्य शरीर में स्थित आत्मा को मनुष्य मानता है; तथा तिर्यंच के शरीर में रहे हुए आत्मा को तिर्यंच मानता है, देव के शरीर में रहे हुए आत्मा को देव मानता है, तथा नारकी के शरीर में स्थित आत्मा को नारकी मानता है; परंतु आत्मा तो देह से भिन्न अनंत ज्ञानादि शक्ति संपन्न, स्वसंवेद्य अचल स्थितिवाला है, उसे वह नहीं जानता। शरीर तो क्षणभंगुर जड़ है, और आत्मा तो ध्रुव स्थितिवाला चैतन्यशक्ति-संपन्न है—ऐसी दोनों की भिन्नता को अज्ञानी नहीं पहिचानता और इसप्रकार चिदानंदशक्तिसंपन्न आत्मा को जो नहीं पहिचानता, वह कदाचित् बड़ा विद्वान हो तो भी अविद्वान ही है, चैतन्यविद्या को वह नहीं जानता। ज्ञानी तो अपने को देह से भिन्न, एक चैतन्यभावरूप ही सदैव अनुभव करते हैं।

देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप जीव को जो नहीं पहिचानता वह जीव, जब हाथी का शरीर देखता है, वहाँ 'यह जीव हाथी है' इसप्रकार आत्मा को ही हाथी इत्यादि तिर्यंचरूप मानता है;

देव के शरीर में आत्मा रहा वहाँ, आत्मा ही मानों देवशरीररूप हो गया—ऐसा वह अज्ञानी मानता है; और इसीप्रकार मनुष्य या नारकी के शरीर में स्थित आत्मा को मनुष्य या नारकीरूप मानता है; परंतु आत्मा तो अरूपी, ज्ञान-आनंदस्वरूप है, ऐसा वह अज्ञानी नहीं जानता। आत्मा तो देह से तद्दन भिन्न है; भिन्न-भिन्न शरीर धारण करने पर भी आत्मा अपने चैतन्यस्वरूप में स्थित रहता है, चैतन्यस्वरूप से पृथक् होकर वह कभी जड़रूप नहीं होता।

आत्मा स्वयं तो ज्ञानस्वरूप ही है, वह कदापि मनुष्य आदि देहरूप हुआ नहीं। मनुष्य-तिर्यंच-देव और नारकी, ऐसे नाम तो इस शरीर के संयोग से ही हैं, कर्म की उपाधि से रहित आत्मा के स्वरूप को देखे तो वह ज्ञान-आनंदस्वरूप है; मनुष्य आदि शरीर, उसके बोलने-चालने की क्रिया, वह कहीं आत्मा की क्रिया नहीं; वह तो अचेतन जड़ की रचना है। देह से भिन्न, अनन्त चैतन्यशक्ति संपन्न जो अरूपी आत्मा है, वह आँख आदि इंद्रियों से दिखाई नहीं देता, वह तो अंतर के अतीन्द्रिय स्वसंवेदन से ही जानने में आता है।

देह से भिन्न चिदानंदस्वरूप आत्मा श्रीगुरु ने बतलाया है; उस स्वरूप को जो समझता है, उसे श्रीगुरु के प्रति बहुमान आदि का यथार्थ भाव जागृत होता है कि अहा! चिदानंदस्वरूप आत्मा श्रीगुरु ने मुझे परम अनुग्रह करके बतलाया है। अपने को स्व-संवेदन हो, तब ज्ञानीगुरु की वास्तविक पहिचान होती है और उनके प्रति सच्चा भक्ति भाव प्रगट होता है। शुभराग द्वारा चिदानंदस्वरूप आत्मा पहिचानने में नहीं आता।

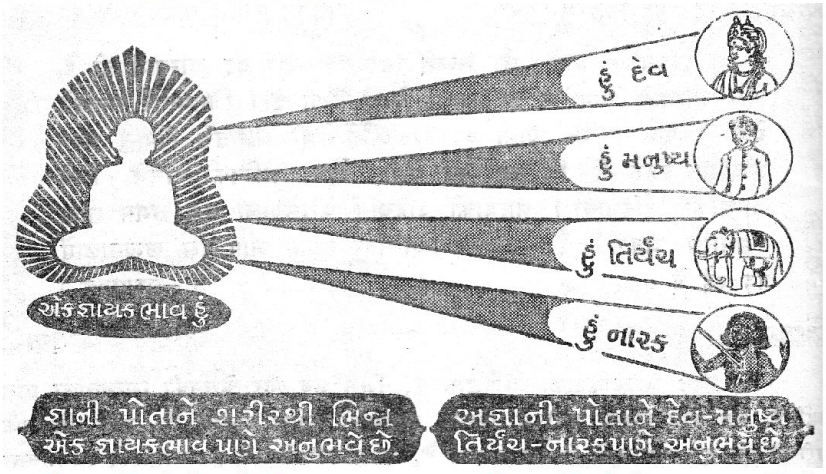

ज्ञानी अपने को देह से भिन्न एक ज्ञायकभावरूप अनुभव में लेता है।

अज्ञानी अपने को देव-मनुष्य-तिर्यंच-नारकरूप समझता है।

सम्यग्दृष्टि–अंतरात्मा अपने आत्मा को देहादि से भिन्न ऐसा जानता है कि मैं तो अनंत ज्ञान और आनंद शक्ति से परिपूर्ण हूँ; अपने ज्ञानानंदस्वरूप से मैं कभी च्युत नहीं हुआ हूँ। ऐसे ज्ञानानंदस्वरूप की सम्यक्श्रद्धा और ज्ञान धर्मी को हुआ है, अब जगत की कोई भी प्रतिकूलता में ऐसा सामर्थ नहीं जो उसे चलायमान कर सके। आत्मस्वरूप के आश्रय से जो सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान प्रगट हुआ, वह अब आत्मा के ही आश्रय से अचल स्थित रहेगा, किसी भी संयोग के कारण से श्रद्धा–ज्ञान चलायमान नहीं होगा। ऐसे स्वसंवेदन से आत्मा के वास्तविक स्वरूप की पहिचान करना, वह बहिरात्मपने से छूटकर अंतरात्मा (धर्मात्मा) होने का उपाय है, और फिर आत्मा के चैतन्यस्वरूप में मग्न होकर स्वयं परमात्मा बन जाता है।

आत्मा चैतन्यस्वरूप है, और यह देह तो जड़ है। आत्मा और शरीर एक साथ एक स्थान पर रहते हुए भी दोनों के अपने–अपने भाव पृथक् हैं, इसलिये भावों में भिन्नता है। जिसप्रकार एक ही घर में एक दुर्जन मनुष्य और एक सज्जन मनुष्य—दोनों एक साथ रहते हों, परंतु दोनों के भाव भिन्न–भिन्न ही हैं, उसीप्रकार इस लोक में जड़ शरीरादि और आत्मा एकक्षेत्रावगाह से रहने पर भी दोनों के भाव बिल्कुल भिन्न हैं। आत्मा अपने ज्ञान–आनंद भावों में है और कर्म–शरीर तो अपने अजीव–जड़ भाव में स्थित है; दोनों का एकत्व कभी नहीं हुआ, सदैव अत्यंत भिन्नता ही रहती है।

भाई! तेरे आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसे एक बार जान तो सही। देह से पार, राग से पार, अंतर में ज्ञानादि अनंतगुणस्वरूप अपना आत्मा है, उसके साथ एकत्व करके जहाँ आनंद का स्वसंवेदन किया, वहाँ बाह्य पदार्थ अंशमात्र अपने प्रतीत नहीं होते। और उनमें कहीं भी सुखबुद्धि नहीं रहती। चैतन्य का सुख चैतन्य में ही है, उसके स्वाद का जहाँ आस्वादन किया, वहाँ संयोग में आत्मबुद्धि नहीं रहती।

धर्मी जीव जानता है कि मैं देव–मनुष्य आदि नहीं हूँ, किंतु उसमें स्थित जो चैतन्यपना है, वही मैं हूँ; मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, और शरीर–कर्म आदि तो जड़स्वरूप हैं; वह मैं नहीं। राग भी उपाधिभाव है, वह मेरे ज्ञान–दर्शन स्वरूप से भिन्न है। हे जीवो! यदि वास्तविक शांति चाहते हो तो ऐसे आत्मा को पहिचानो।

ज्ञानी को तो एक अपना चैतन्यभगवान ही प्रिय है, इसके अतिरिक्त समस्त बाह्य पदार्थों

को अपने से भिन्न जानता है, उसमें वह कहीं मूर्छित नहीं होता। अज्ञानी तो अपने शरीर को ही आत्मा मानता है, इसलिये वह उसी में मूर्छित रहता है, परंतु शरीर से भिन्न स्वरूप आतमा को वह नहीं जानता। आत्मा तो सदैव ज्ञान-आनंदस्वरूप ही है-ऐसा अपने अंतरवेदन से ही जानने में आता है।

अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा चैतन्यस्वरूप आत्मा को तो नहीं जाना, और इंद्रिय ज्ञान द्वारा मात्र अचेतन शरीर को ही देखा, अत: अज्ञानी का 'शरीर ही मैं हूँ' ऐसी देहबुद्धि हो गई। और जिसप्रकार अपने में शरीर को आत्मा मानता है, उसीप्रकार दूसरे में भी उसके अचेतन शरीर को देखकर उसे ही वह दूसरे का आत्मा मानता है। इसप्रकार मूढ़ जीव अपने में और पर में अचेतन शरीर को ही आत्मा मानता है; देह से भिन्न आत्मा को वह नहीं देखता, नहीं पहिचानता। उसे शांति कहाँ से मिले? इसलिये यदि वास्तविक शांति की इच्छा हो तो आत्मा को ही आत्मस्वरूप से पहिचानो।

ज्ञानी का आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा है, देह से पार है और वह राग का भी कर्ता नहीं है, वह तो आनंद और ज्ञानरूप ही परिणमित होता है—ऐसी पहिचान करे, तभी ज्ञानी की सच्ची पहिचान होती है, परंतु अज्ञानी ऐसा न पहिचानकर शरीर की चेष्टाओं को तथा राग को ही देखता है। अपने आत्मा को नहीं देखनेवाला अंधा दूसरे के आत्मा को कैसे देखेगा?

देहादि संयोग से भिन्न मेरा चैतन्यतत्त्व है—ऐसी जो पहिचान करे, उसे समस्त संयोग में से राग-द्वेष का अभिप्राय छूट जाता है, और चैतन्य की अपूर्व शांति प्रगट होती है।

अरे भाई! भ्रमवश देह को ही आत्मा मानकर तूने अब तक अनंत जन्म-मरण में परिभ्रमण किया है, अब देह से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर यह भ्रमबुद्धि को छोड़ दे, बहिरात्मदशा को छोड़ दे, और अंतरात्मा बन जा।

देह को आत्मा माननेवाला जीव भ्रांति से कैसा दु:खी होता है, उसका उदाहरण पढ़िये—

एक मनुष्य नींद में सो रहा था, उसे स्वप्न आया कि 'मैं मर गया हूँ' इसप्रकार अपना मरण देखकर वह जीव बहुत दु:खी और भयभीत हुआ।

किसी सज्जन ने उसे जागृत किया; जागृत होते ही उसने देखा कि अरे, मैं तो जीवित ही

हूँ। मैं कहीं मर नहीं गया हूँ। स्वप्न में अपने को मरा देखकर मैं बहुत दु:खी हुआ, परंतु वास्तव में तो मैं जीवित ही हूँ। इसप्रकार अपने को जीवित जानकर वह आनंदित हुआ और मृत्यु संबंधी उसका दु:ख मिट गया। अरे, यदि तू मर गया होता तो 'मैं मर गया हूँ' ऐसा कौन जानता? जाननेवाला तो जीवित ही है। उसीप्रकार मोहनिंद्रा में सोया हुआ जीव, देहादि के संयोग-वियोग से स्वप्न की तरह ऐसा मानता है कि मैं मर गया हूँ, मेरा जन्म हुआ है, मैं मनुष्य हो गया हूँ, मैं तिर्यंच हो गया हूँ।—ऐसी मान्यता के कारण वह दु:खी हो रहा था। परंतु ज्ञानी ने उसे जड़-चेतन की भिन्नता बतलाकर जागृत किया; जागृत होते ही उसे भान हुआ कि अरे, मैं तो अविनाशी चेतन हूँ, और यह शरीर तो जड़ है, वह कहीं मैं नहीं हूँ। मैंने भ्रम से अपने को शरीररूप माना, परंतु मैं कहीं चैतन्य से मिटकर जड़ नहीं हो गया हूँ। शरीर के संयोग-वियोग से मेरा जीवन-मरण नहीं है। ऐसा भान होने पर उसका अज्ञानजनित दु:ख दूर हुआ और वह आनंदित हुआ कि वाह! जन्म-मरण मुझमें नहीं, मैं तो सदैव जीवंत चैतन्यमय हूँ। मैं मनुष्य या तिर्यंच नहीं हूँ, मैं तो शरीर से भिन्न चैतन्यमय ही रहा हूँ। यदि मैं शरीर से भिन्न न होऊँ तो शरीर छूटने पर मैं कैसे जीवित रह सकूँ? मैं तो चैतन्यस्वरूप से सदैव जीवंत हूँ।

जिसप्रकार स्वप्न-अवस्था में अपने को मरा हुआ माना परंतु जागृत होने पर मैं जीवित ही हूँ, ऐसा भान हुआ; उसीप्रकार अज्ञानदशा में अपने को देहरूप माना था, वह ज्ञानदशा में भिन्न ही अनुभव करता है।

स्वप्न में मृत्यु की तरह, कोई दरिद्री जीव स्वप्न में अपने को सुखी या राजा माने, परंतु जहाँ जागृत हुआ, वहाँ मालूम हुआ कि वह सच्चा सुख नहीं था। उसीप्रकार मोह-निद्रा में मग्न जीव बाह्य संयोग में पुण्य में-राग में जो सुख मानते हैं, वह सुख तो स्वप्न के सुख के समान है। जहाँ जड़-चेतन का भेदज्ञान करके जागृत हुआ, वहाँ भान हुआ कि अरे, बाह्य में-राग में कहीं मेरा सुख नहीं है; मैंने उसमें सुख माना था, वह तो भ्रम था, वास्तविक सुख नहीं था; वास्तविक सुख तो मेरे आत्मा में है।—ऐसे चैतन्य का भान करे तो मिथ्या मान्यतारूपी रोग मिटे और सम्यग्दर्शनादि निरोगता प्रगट हो—वही सच्चा सुख है।

मैं तो चैतन्यस्वरूप असंयोगी शाश्वत हूँ—ऐसी भेदज्ञान की भावना से आत्मज्ञान प्रगट करे तो अविद्या के संस्कार नष्ट हो जाते हैं। जिसप्रकार कुँए के किनारे का पत्थर भी रस्सी के

बारबार घर्षण से घिस जाता है, उसीप्रकार देह से भिन्न चिदानंदतत्त्व का निरंतर अभ्यास तथा भावना से अनादि अविद्या का संस्कार नष्ट हो जाता है और भेदज्ञान होकर, अपूर्व ज्ञान संस्कार प्रगट होता है।

'शरीर ही मैं' ऐसी मिथ्याबुद्धि के कारण जीव संसार में नये-नये शरीर धारण करके जन्म-मरण करता है। देह को अपने से भिन्न जानकर, चिदानंदस्वरूप आत्मा का जो सेवन करता है—उसे मोक्ष होने पर शरीर छूट जाता है,—फिर उसे शर्मजनक ऐसे इस देह का संयोग ही नहीं होता। अशरीरी आत्मा को भूलकर शरीर को जिसने अपना माना, वही संसार की चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। परंतु अशरीरी चैतन्यस्वभाव को पहिचानकर उसकी जो आराधना करता है, वह अशरीरी सिद्ध हो जाता है। श्री योगीन्दुस्वामी कहते हैं—

अभ्यंतर निजध्यान में देखे जो अशरीर;
शरमजनक जन्मों मिटे, पीवे न जननी-क्षीर।

ज्ञान-आनंदस्वरूप आत्मा है, वह शरीर से भिन्न ज्ञाता-दृष्टा है; आत्मा शरीर को जाननेवाला है परंतु स्वयं शरीर नहीं है। अरे जीव! यह शरीर तू नहीं, तू तो चैतन्यस्वरूपी अरूपी है; देह से भिन्न अपने स्वरूप को जानने पर ही तेरे को शांति प्राप्त होगी, अतः आत्मा को पहचान।

इस शरीर को तो 'भवमूर्ति' कहा है। आत्मा चिदानंदस्वरूप है, वह आनंद की मूर्ति है, और यह देह तो भव की मूर्ति है; उसकी ममता से तो भव प्राप्त होता है, आनंद नहीं। और आत्मा को देह से भिन्न जानने पर आनंद की प्राप्ति सहित भव का अंत हो जाता है।

काया की न माया जिसे, आत्मा में जो स्थित ऐसे...
निर्ग्रंथ का पंथ भव-अंत का उपाय है...

ऐसा मनुष्य-अवतार मिलना अनंत काल में भी दुर्लभ है। ऐसा मनुष्य-अवतार और उसमें भी जैनधर्म का उत्तम सत्संग महाभाग्य से पाकर हे जीव! तू विचार तो कर कि "मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? और मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? किसके साथ मेरा सच्चा संबंध है?"

— यह देह तो अभी कुछ समय से बना है, अन्न-जल से इस ढींगले की रचना हुई है; मैं वह नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ। मेरा आत्मा कहीं नया उत्पन्न नहीं हुआ है; शरीर का संयोग नया

हुआ है। यह आत्मा पूर्व भवों में दूसरे शरीर के संयोग में था, वहाँ से उस शरीर का त्याग कर यहाँ आया है,—इसप्रकार आत्मा तो त्रिकाल स्थित रहनेवाला तत्त्व है, और देह तो क्षणिक संयोगी है। देह के बिना भी आत्मा जी सकता है।

मेरा स्वरूप तो ज्ञान-आनंदस्वरूप है। शरीर—इंद्रिय, वह मेरा स्वरूप नहीं; वह तो जड़ का रूप है; इस शरीर के साथ मेरा कोई वास्तविक संबंध नहीं है; उसके साथ का संबंध छोड़कर ज्ञानानंदस्वरूप के साथ ही संबंध जोड़ना योग्य है। अपने चिदानंदतत्त्व के अतिरिक्त जगत के किसी भी पदार्थ के साथ मेरे एकत्व का संबंध कदापि नहीं है।—ऐसे सर्वप्रकार से विचार कर, अंतर्मुख चित्त से ज्ञानानंदस्वरूप अपने आत्मा का निर्णय करना और देहादि को अपने से बाह्य भिन्न जानना, यही सिद्धांत का सार है।—इसप्रकार आत्मा को पहिचानना ही परम सुख का उपाय है।

❀ **द्रौणगिरि-सिद्धक्षेत्र**—बुन्देलखंड के इस सिद्धक्षेत्र में तारीख ३-३-७५ के दिन इंदौर तथा गुजरात के दोनों धर्मचक्रों का अभूतपूर्व मिलन हुआ। जिसे देखकर बीस हजार यात्रीगण आनंद-विभोर हुए। महावीर-धर्मचक्र के स्वागत का जुलूस उल्लासपूर्ण ढंग से निकला था। श्री गुरुदत्त मुनिराज के इस मोक्षधाम में दो धर्मचक्र के मिलन का यह प्रथम अवसर था। इस अवसर पर भाई श्री बाबूभाई के शुभहस्त से महावीर प्रभु के धर्मस्तंभ की शिलान्यास विधि हुई थी।

❀ **सागर**—में पूज्य स्वामीजी का तथा गुजरात के धर्मचक्र का स्वागत हजारों जिज्ञासुओं ने बहुत ही उमंगपूर्वक किया था। श्री सेठ भगवानदासजी को धर्मप्रभावना के लिये बहुत उत्साह था।

जिज्ञासु का प्रथम कर्तव्य

आत्मतत्त्व का निर्णय

[सम्यक्त्वजीवन लेखमाला लेखांक : ११]

आत्मिकसुख कहो या सम्यग्दर्शन कहो, जीव को वह इष्ट है। सुख जिसमें भरा है—ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप का सच्चा निर्णय ज्ञान के द्वारा करना, यही सम्यक्त्व की रीति है। जिसने ऐसा निर्णय किया, वह पात्र हुआ और उसे अंतर में आत्मअनुभव होगा ही होगा। (ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

अहो, वीतरागी संतों ने आत्महित का जो वीतरागी सत्य मार्ग दिखलाया, उस मार्ग पर चलनेवाले धर्मात्माओं की विचारधारा तथा रहन-सहन तो कोई अलौकिक अद्भुत होती है; और जहाँ उस मार्ग को पाने की सच्ची जिज्ञासा जागृत होती है, वहाँ भी जीव के भावों में कोई आश्चर्यकारी परिवर्तन होने लगता है और मुमुक्षु जीवन में उसे नये-नये भावों का वेदन होता है।

❀ सम्यक्त्व के जिज्ञासु को पहले यह प्रश्न होता है कि सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है ?

❀ अपने शुद्धात्मस्वरूप की अनुभव सहित प्रतीति, सो सम्यग्दर्शन है।

❀ फिर प्रश्न यह होता है कि ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कैसे हो ?

❀ प्रथम तो जिस जीव के अंतर में आत्मा की सच्ची मुमुक्षुता होती है, वह ज्ञानी के संग से ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा की अगाध महिमा जानकर लक्ष में लेता है, और फिर बार-बार उसके अभ्यास से परिणाम को उसमें लगाकर, अंतर्मुख उपयोग के द्वारा उसके अनुभव सहित उसका सत्यदर्शन करता है:—यही सम्यग्दर्शन है।

यह सम्यग्दर्शन मोक्षपुरी में जाने के लिये शीघ्रगामी विमान जैसा है, कर्मरज के गंज को उड़ा देनेवाला वह पवन है, और भव के वन को भस्म करने के लिये अग्नि समान है; मुमुक्षु के मनोरथ को सिद्ध करनेवाला वह महारत्न है।

अहा, सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने जिसकी महिमा दिव्यध्वनि के द्वारा प्रसिद्ध ही है, वह भगवान आत्मा शुद्ध चिद्रूप, सर्व तीर्थों में उत्तम तीर्थ, सुख का महान खजाना और सबसे श्रेष्ठ सुंदर तत्त्व है।—ऐसे अद्भुत आत्मतत्त्व का ज्ञान होते ही परिणाम शीघ्र स्वोन्मुख हो जाता है, क्षणभेद भी नहीं रहता। बस, जहाँ ज्ञान स्वोन्मुख हुआ कि उसी समय श्रद्धादि अनंत गुण भी अपने-अपने निर्मल भाव से खिल उठे। वाह! आत्मबाग खिल उठा... अनंत गुणों के शांतरस का एकसाथ कोई अतीन्द्रिय निर्विकल्प अत्यंत मधुर स्वाद अनुभूति में आया... इसी का नाम है सम्यग्दर्शन!

इसप्रकार जब पूर्ण स्वरूप के लक्ष से सम्यग्दर्शन हुआ तब मोक्षमार्ग का प्रारंभ हुआ; पूर्णता के लक्ष से जो प्रारंभ हुआ, वही सत्य प्रारंभ है। मोक्षमहल का प्रथम सोपान यह सम्यग्दर्शन है।

अहो! जिसकी संधि परमात्मपद के साथ है, ऐसी ज्ञानदशा तथा ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पूर्व मुमुक्षु को आत्मा की ओर झुकती हुई अद्भुत धारा बहने लगती है, और आत्मसन्मुखी विचारधारा के बल से उसकी रहन-सहन भी उसी के अनुकूल होती है। उसकी सभी रहन-सहन में आत्मधुन की धाराएँ अविरत बहती हैं। उसकी धारा का प्रवाह आत्माभिमुख बहता है। भूमिका अनुसार शुभ-अशुभ परिणाम होता है—उसके बीच भी आत्मा की धुन अटूट रहती है; उसको आत्मा की सच्ची लगन लगी है, इसलिये बीच में अन्य कोई भावों का रस मुख्य नहीं हो पाता। अन्य सभी रसों को गौण बनाकर आत्मरस की ही पुष्टि करता जाता है।

अनुभव दशा के पूर्व जीव को अनेक प्रकार से आत्मस्वरूप का बल और उसकी महिमा संबंधी विचार उठते हैं। उसमें विकल्प की मुख्यता नहीं होती; विकल्प से वह दूर हटता जाता है और आत्मा की गहराई में उतरता जाता है। जैसे-जैसे ज्ञान गहरा उतरता जाता है, वैसे-वैसे चैतन्यभाव की अधिक-अधिक महिमा दिखाई देती है, और उसप्रकार की शांति का वेदन होता है। शांति के दिखने से उसमें उसकी चाहना बढ़ती जाती है और इस चाहना की पराकाष्ठा होने पर वह जीव निर्विकल्प अनुभूतिरूप परिणत हो जाता है। अतः ज्ञानी महात्मा आत्मस्पर्शी भाव से कहते हैं कि 'तू आत्मा मा गमाड़' (अर्थात् आत्मा में ही सुख समझकर उसी में प्रीति कर।)

मैं सबको देखनेवाला फिर भी सबसे भिन्न, विकल्प को जाननेवाला फिर भी स्वयं निर्विकल्प—ऐसे भेदज्ञान के भाव का घोलन उसे रहा करता है।

जो दृष्टा है दृष्टि को, जो जानत है रूप।
अबाध्य अनुभव जो रहे वह है जीवस्वरूप॥

आँखों से किसी वस्तु को देखा, फिर आँखें न हों तो भी वह ज्ञान कायम ही रहता है। क्योंकि ज्ञान चक्षुओं से भिन्न है, इसलिये चक्षु के बिना भी ज्ञान रहता है; उसीप्रकार विकल्प के छूट जाने पर भी आत्मा को बाधा नहीं आती, विकल्प छूट जाने पर भी अभाधस्वरूप कायम रहता है।

इसप्रकार मुमुक्षु ने अपना शुद्धस्वरूप जैसा है, वैसा अपनी दृष्टि में लिया है। वह अपने शुद्ध स्वरूप को पहचानकर स्व में ही एकत्वरूप अनुभूति करता है; उसको पर के साथ जरा भी संबंध नहीं है; वह पर को जानता हुआ भी उसमें एकत्वरूप परिणत नहीं होता; अपने आत्मा को उसमें एकत्वरूप से परिणत होकर जानता है। इसप्रकार पर से विभक्त और स्व में एकत्व स्वरूप उसका 'ज्ञायक-जीवन' है। यही ज्ञानी का सम्यक्त्व-जीवन है।

ऐसा सम्यक्जीवन जीने के लिये सर्वप्रथम मुमुक्षु जीव को आत्मा के आदर्श स्वरूप सिद्ध भगवान और अरिहंत भगवान लक्ष में आता है। मैं उनके सदृश हूँ—इसप्रकार शुद्धदृष्टि से वह आत्मा की भावना भाता है। और वैसी ही दशा प्रगट करने की भावना उसके मन में रहती है। पूर्णता के लक्ष से वह सच्चा प्रारंभ करता है। अपनी सर्वत: शुद्ध मोक्षदशा की भावना, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सर्वप्रकार से स्वयं शुद्धरूप बनने की भावना ज्ञानी जीव को होती है। द्रव्य-गुण जैसे शुद्ध हैं, वैसी शुद्धता के अंश का अपनी पर्याय में आस्वादन किया है, और वह कब पूर्ण हो, ऐसी भावना ज्ञानी को होती है। भले ही पर्याय के भेद-विकल्पों को हेय कहा जाये वरन पर्याय में शुद्धता होना, आनंद होना, वह तो उपादेय है। मुमुक्षु की आत्मा की भावना में, उसकी महिमा में, उसकी शुद्धि की भावना में ज्ञान और राग की भिन्नता का अभ्यास बढ़ता जाता है। चारों ओर से ज्ञान और राग की भिन्नता उसकी दृष्टि में आती जाती है। राग और ज्ञान की भिन्नता उसके वेदन में आती जाती है और उसके अंतर में ऐसी चोट लग जाती है कि रागादिभाव ज्ञान से विरुद्ध भासता है; उन रागादि में उसकी कहीं भी जरा-सी भी शांति मालूम

नहीं होती; वह राग की अशांति में से किसी भी प्रकार बाहर निकलने का प्रयत्न करता है... एवं चैतन्य की शांति का बारबार रटन करता है। अभी विकल्प होते हुए भी वह विकल्प में नहीं झूलता परंतु ज्ञानरस में ही झूलता है; अंत में चैतन्यरूप स्ववस्तु को ग्रहण करके उपयोग को निर्विकल्प बनाता है, तब समग्र जगत का संबंध टूटकर आत्मा विश्व के ऊपर तैरता है। जगत से भिन्न यह अपने में सुंदरता पाता है।—इसका नाम है आत्मअनुभूति; और यही है—सम्यग्दर्शन की धन्य घड़ी!

पहले मुमुक्षु जीव ने विचारधारा में भी राग से भिन्न आत्मा का निर्णय किया है; परलक्ष से होनेवाले रागादिभाव मेरा स्वरूप नहीं हैं; उससे भिन्न प्रकार का ज्ञानस्वभावी मैं हूँ।

ज्ञानी ज्ञानभाव में राग का वेदन करता ही नहीं, राग से भिन्न ज्ञानभाव का ही वेदन करता है। राग स्वयं दु:ख है, उसमें से सुख कैसे प्राप्त हो? और उसमें ज्ञानी को एकत्वबुद्धि कैसे हो? राग से ज्ञान की भिन्नता का वेदन करते होने से ज्ञानी राग का अनुभव नहीं करता; ऐसी पहचान के द्वारा यह जीव अपने भावों में भी ज्ञान और राग को भिन्न करके भेदज्ञान करता जाता है, और उसे आत्मा का स्वरूप केवलज्ञान और आनंदमय ही भासता है। चैतन्यवस्तु के वेदन में राग नहीं होता; ऐसा वास्तविक निर्णय किया, तब फिर राग और ज्ञान को भिन्न होने में कितनी देर? भीतर में निर्विकल्प होकर, चैतन्यतत्त्व में उपयोग लगाने पर रागविहीन अतीन्द्रिय आनंदमय परिणमन हो जाता है। अहो, आत्मा अपूर्व भावरूप हो जाता है। मानों आत्मा ही नया बन गया है!

चैतन्यभाव में तद्रूप अनंत शक्ति के मंथन द्वारा आत्मा की अगाधता में-गहराई में पहुँचकर मुमुक्षु चैतन्यतत्त्व को ग्रहण कर लेता है, और परभावों को अलग कर देता है। ज्ञान-दर्शन-आनंद-प्रभुता आदि अनंत शक्ति का पिण्डस्वरूप मेरा शुद्ध तत्त्व है; वह ज्ञान-दर्शन आदि किसी भी गुण में राग के साथ तन्मयरूप नहीं है। ऐसी अनंती शक्ति से अभिन्न अखंड पिण्डरूप चैतन्यमात्र स्वतत्त्व ही मैं हूँ—इसप्रकार धर्मी श्रद्धा में लेकर अनुभूति करता है।

अहो! ज्ञान और आत्मा ऐसे गुण-गुणी भेद का द्वैत भी जिस अनुभूति में नहीं ठहरता, ऐसी निर्विकल्प अनुभूति की शांति का क्या कहना? अनंतगुण की निर्मलता सहित एकरूप वस्तु अनुभूति में प्रकाशमान है।

इसप्रकार सभी तरह से अपने आत्मस्वरूप की सन्मुखता के परिणाम मुमुक्षु को होते हैं, स्वरूप की सन्मुखता के सिवाय बहिर्मुख अन्य कोई भी उपाय सम्यग्दर्शन के लिये नहीं है, नहीं है, नहीं है।

ज्ञानी होने के पूर्व अभ्यास के प्रारंभ काल में जिज्ञासु जीव को ऐसा मालूम होता है कि अरे, मेरे को बहुत विकल्प होते हैं परंतु पीछे से विचार को अंतर्मुख करके आत्मा के खोजने पर उसको ख्याल में आता है कि अहा! इस विकल्प के समय भी विकल्प को जाननेवाला 'मेरा ज्ञान' विकल्प से भिन्न कार्य कर रहा है; विकल्प मैं नहीं हूँ, ज्ञान ही मैं हूँ। इसप्रकार अभ्यास करते-करते ज्ञानस्वभाव के रस के प्राबल्य से विकल्प का रस टूटता जाता है—और आखिर ज्ञान की झनझनाहट करती ऐसी घटिका आ जाती है कि (समयमात्र में) धड़ाम से विकल्प को पार करके उपयोग का निज शुद्धस्वरूप में मिलन हो जाता है। बस! यही है अनुभव-दर्शन। यही है सम्यक्त्व की अपूर्व घड़ी। यही है मोक्ष के मार्ग का मंगल उद्घाटन।

❀ ऐसा अनुभव किसके हो?

❀ आत्मा स्वयं ही कर्ता होकर अपनी सम्यक्त्वादि पर्याय को करता है, ऐसा उसका कर्तास्वभाव है। अनुभव में विकल्प रहित निर्मल पर्याय सहजभाव से प्रगटती है, ऐसा आत्मा का पर्यायस्वभाव है। अतः उसका कर्ता तो आत्मा स्वयं ही है। हाँ, अनुभूति करते समय 'मैं निर्मल पर्याय करूँ अथवा निर्मल पर्याय मेरा कार्य'—ऐसा कर्ता-कर्म भेद का कोई विकल्प या विचार जीव को नहीं होता। उस वक्त तो कर्ता-कर्म-क्रिया के भेद से पार होकर आत्मा अपने एकत्व में झूलता है... सत् मात्र अनुभूति होने पर भी उसमें अनंत गुण की गंभीरता भरी हुई है; अनंत गुण के स्वाद का एकसाथ उसमें संवेदन होता है। अहो! कैसा कल्पनातीत स्वाद होगा वह! वाह! स्वानुभवी संतजन ही उसको पहचानता है—वचन से वह अवर्णनीय है; वेदन में आता है, पर वाणीगम्य नहीं होता।

— ऐसा आत्मस्वरूप धर्मी जीव को चतुर्थ गुणस्थान में ज्ञान में अनुभवगोचर (स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष) हो गया है; सर्वज्ञ की वाणी में भी जो न आ सका, सो उसके वेदन में आ गया है। वाह रे वाह! धन्य है वह दशा! धन्य है वह जीव!! चैतन्य के अगाध चमत्कार का उसने साक्षात्कार कर लिया है; उसने अपने अंतर में परमात्मा का दर्शन कर लिया है।

'आत्मा कैसा होगा ?'—या 'आत्मा ऐसा होगा ?' इसप्रकार कल्पनारूप नहीं, परंतु 'मैं ऐसा ही हूँ' इसप्रकार प्रत्यक्ष अनुभूतिरूप उसका ज्ञान नि:शंक हो जाता है। उसका स्वानुभव-प्रमाण ऐसा प्रबल है कि और किसी प्रमाण को खोजने की जरूरत नहीं रहती। जगत के अन्य सामान्य जीव देखे या न देखे, पर वह स्वयं अपनी अनुभूति को साक्षात् पहचानता है, अत: 'सम्यक्त्ववंत जीव नि:शंक तथा निर्भय होता है।'

जिसने अनुभवज्ञान के द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप की अपरंपार महिमा पहचान ली, उसका चित्त अब संसार के किसी पदार्थ के प्रति ललचाता नहीं है। अरे, उस आराधक जीव के मोक्ष साधते बीच में कदाचित् उत्कृष्ट पुण्य का संयोग आ जाये तो भी उसमें उसे कुछ भी आश्चर्य या सुंदरता प्रतीत नहीं होती, और न उसके द्वारा उसे आत्मा की किंचित् भी महत्ता मालूम होती। उसको अपने स्वतत्त्व की ही महिमा ऐसी होती है कि अन्य सभी से उसको निरंतर उदासीनता हो रहती है। अहो ! चैतन्यस्वरूप का संचेतन करनेवाली मेरी ज्ञानचेतना राग को कैसे उत्पन्न करे ? एवं अन्य परवस्तु की रचना करने की तो क्या बात ? परपदार्थ मेरी निकट हो या दूर हो, किंतु मेरा यह स्वतत्त्व तो उससे हमेशा निराला ही है; वह स्वयं अपने से ही शोभित हो रही है। मेरे स्वतत्त्व की अद्‌भुत सुंदरता अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखती—इसप्रकार वह स्वयं अपने में ही तृप्त रहता है।

❀ किसी अज्ञानी जीव को जरूर प्रश्न उठेगा कि, क्या वे ज्ञानी जीव राज्य नहीं करते ? गृहसंसार या व्यापार-धंधे में शामिल नहीं होते ? क्या भरत चक्रवर्ती आदि ने यह सब नहीं किया था ?

❀ अरे भैया ! ज्ञानी की ज्ञानदशा को तूने नहीं पहचाना। जो कार्य तेरे देखने में आये, वे सब रागपरिणति के कार्य हैं, ज्ञानपरिणति के वे कार्य नहीं हैं। ज्ञानपरिणति और रागपरिणति दोनों के कार्य सर्वथा भिन्न हैं। ज्ञानपरिणति में तन्मय ज्ञानी स्वद्रव्य की चेतना के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु में तन्मयता नहीं करता। अत: उसका वह अकर्ता ही है। हाँ, अस्थिरता-अपेक्षा से उसके जो राग-द्वेष के परिणाम हैं, इतना दोष है।—परंतु ज्ञानचेतना उससे भिन्न है। ज्ञानी की उस चेतना को तू पहचान, तब तुझे ज्ञानी की अंतरंग दशा की पहचान हो और तुझमें ऐसी ज्ञानदशा प्रगट हो जाये।

इसीप्रकार ज्ञानी मंदिर में हो, जिनदेव का पूजन करता हो, उस समय भी उसकी ज्ञानचेतना उस शुभराग से भिन्न ही वीतरागी कार्य करती-करती मोक्ष की साधना कर रही है। अत: राग के समय भी उसे मोक्षमार्ग प्रवर्तमान है। राग स्वयं कदापि मोक्षमार्ग नहीं है, परंतु उस समय जो ज्ञानचेतना और सम्यक्त्वादि भाव जीवंत हैं, वही मोक्षमार्ग है। वाह! धन्य है मोक्ष का पथिक!

अहो, ज्ञानी की इस दशा को लक्ष में लेने पर मुमुक्षु की विचारधारा राग से अलग होकर चैतन्य की ओर झुकने लगती है... इसके बाद क्या होता है!—उसकी राग और ज्ञान की भिन्नता का वेदन होकर, ज्ञान की अनुभूति होती है। और इसके बाद उसी की अनुभूति करते-करते, संसार से छूटकर वह मुक्त होता है। श्रीमद् राजचंद्रजी इस बात का सबूत देते हैं कि—

जब प्रगटे सुविचारणा, तब प्रगटे निज ज्ञान।
उसी ज्ञान से मोहक्षय, -होता पद निर्वाण॥

आत्मधर्म का वार्षिक लवाजम रु. ६.००

अब आगे का अंक चैत्रमास का विशेषांक होगा—जिसमें प्रभु महावीर की सच्ची महिमा तथा उनका उपदेश प्रसिद्ध होगा। इसके बाद वर्ष समाप्त होकर वैशाख से नया वर्ष चालू होगा। कागजादि के भावों में बहुत वृद्धि होने से आत्मधर्म का लवाजम भी बढ़ाकर नये वर्ष से छह रुपये रखे गये हैं। सो कृपया आप अपना लवाजम छह रुपया (चार नहीं परंतु छह रुपया) भेजने का न भूलें। निम्न बातें याद रखें—

- आत्मधर्म प्रतिमास की पाँचवीं तारीख को रवाना होता है।
- वर्ष का प्रारंभ वैशाख से लेकर चैत्र तक होता है। लवाजम रुपये ६=०० भी वैशाख से चैत्र तक का ही लिया जाता है।
- अभी जो ग्राहक हैं, इन सभी का लवाजम आगामी अंक के बाद समाप्त हो रहा है।
- नये वर्ष का रुपये ६ भेजने का पता : आत्मधर्म कार्यालय, सोनगढ़-३६४२५०
- आपका पूरा पता M.O. के फार्म में अवश्य लिखें।
- किसी अंक के न मिलने पर उसकी सूचना उसी मास की अंतिम तारीख तक कार्यालय को भेजने से दूसरा अंक भेज दिया जायेगा।

सम्यक्त्व-जीवन

[सम्यक्त्व-जीवन लेखमाला : लंखाक १२]

सम्यक्त्व पाने के लिये मुमुक्षु का जीवन कैसा होता है ? सम्यक्त्व की भावना भाते हुए उसके अंतर में कैसे-कैसे भाव होते हैं ? और सम्यक्त्व के होने पर उसका जीवन कैसा सुंदर बन जाता है ? इसके संबंध में इस लेखमाला के द्वारा स्वानुभवरस से भरपूर वर्णन पढ़कर हर एक जिज्ञासु को बहुत प्रसन्नता होगी।

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

जिज्ञासु को सम्यग्दर्शन होने के पूर्व संसार के दु:खों से त्रस्त होकर आत्मा का आनंद प्रगट करने की भावना जागृत होती है।

हे भाई! तू सुखी होना चाहता है न ? हाँ; तो तू अपने सच्चे स्वरूप को पहचान—कि जिसमें सच्चा सुख भरा है। आत्मा के स्वरूप का प्रथम सच्चा निर्णय करने की बात है। अरे! तू कौन है ? क्या क्षणिक पुण्य-पाप का कर्ता ही तू है ? नहीं, नहीं, तू तो ज्ञान करनेवाला ज्ञानस्वभावी है। पर को ग्रहण करनेवाला या त्याग करनेवाला तू नहीं है, चेतकभाव ही तू है। आत्मा का ऐसा निर्णय, वही धर्म के प्रथम प्रारंभ का (सम्यग्दर्शन का) उपाय है। ऐसा निर्णय न हो, तब तक जीव में सम्यग्दर्शन की पात्रता भी नहीं होती। मेरा सहजस्वभाव ज्ञान है—ऐसा ज्ञानस्वभाव का निर्णय श्रुतज्ञान के बल से होता है, और वही सम्यक्त्व की रीति है। जिसने अपने ज्ञान में सच्चा निर्णय किया, उसे पात्रता हुई और उसको आत्म-अनुभव होगा ही। अत: तत्त्व-निर्णय ही जिज्ञासु जीव का प्रथम कर्तव्य है।

मैं ज्ञानस्वभावी ज्ञाता हूँ। ज्ञेय में कहीं भी राग-द्वेष करके अटकना, ऐसा मेरा ज्ञानस्वभाव नहीं है। परवस्तु चाहे जैसी हो, मैं तो उसका केवल जाननेवाला हूँ। मेरा ज्ञातास्वभाव पर का कुछ भी करनेवाला नहीं है। ज्ञानस्वभाव के साथ मुझमें श्रद्धा-शांति-आनंद आदि अनंत स्वभाव हैं। जिसप्रकार मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, वैसे जगत के सभी आत्मा ज्ञानस्वभावी हैं। उनमें जो लोग स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव को भूल रहे हैं, वे दु:खी हैं; और जो

लोग ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके उसका अनुभव करते हैं, वे सुखी हैं। जीव जब अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे, तभी उसका दु:ख दूर हो और वह सुखी हो। पर जीवों का दु:ख मिटानेवाला कोई नहीं है, क्योंकि उन्होंने स्वयं अपनी ही भूल से दु:ख पैदा किया है, और यदि वे अपनी भूल को दूर करें तो उनका दु:ख दूर हो। किसी पर के लक्ष से रुकने का ज्ञान का स्वभाव नहीं है।

अरे जीव! जब तक अपने सुख को भूलकर तूने पर में सुख माना; तेरी भ्रमणा से ही तू दु:खी हुआ। अरे, स्वपद को दुर्गम और परपद को सुगम मानकर स्वपद की अरुचि की, और परपद को अच्छा मानकर, उसको अपना बनाने की व्यर्थ चेष्टा करते-करते दु:खी हुआ। परवस्तु तो कभी आत्मा की नहीं होती। चैतन्यमय स्वपद है। बारबार स्वपद का परिचय करने से वह सहज सुगम और सुंदर मालूम होता है। बारबार उसकी भावना करने में आनंद होता है। चैतन्यपद स्वयं आनंदरूप है—ऐसा जानकर बारबार उसकी भावना करो। शुद्ध चैतन्यमय मेरा स्वपद है, ऐसी आत्मभावना में अनुरक्त मुमुक्षु जीव जगत की किसी भी प्रतिकूलता से भयभीत नहीं होता, आत्मा को सबसे अलग करके ज्ञानस्वभाव का निर्णय करता है। अहो, अनंतसुख का धाम मेरा चैतन्यतत्त्व है—उसका वेदन मैं किसप्रकार करूँ?—ऐसी धुन उसको निरंतर रहती है। चैतन्यपद की ही लगन रखता हुआ दिन-रात उसके अनुभव की भावना करता है। जगत में सुख का धाम यदि कोई है तो यह मेरा चैतन्यपद ही है।—इसप्रकार अपना विश्वास करते-करते स्वसन्मुख झुकता जाता है। ज्यों-ज्यों अंतर में धुन बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आनंद का धाम उसको अपने भीतर निकट में ही दिखने लगता है।

उस पात्र जीव ने श्रुतज्ञान के अवलंबन से आत्मा के ज्ञानस्वभाव को अव्यक्त रूप से लक्ष्य में लिया है, अत: स्वभावसन्मुख झुका है—सम्यक्त्व सन्मुख हुआ है; परिणमन के प्रवाह की दिशा बदल चुकी है; अन्तर में आगे बढ़कर अनुभव के द्वारा उसे आत्म-साक्षात्कार अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है। इसके लिये वह जीव क्या करता है?

आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, इंद्रियों और मन के द्वारा पर की ओर प्रवर्तमान बुद्धियों को रोककर उपयोग को आत्मसन्मुख करता है, तब साक्षात् निर्विकल्प अनुभूति में भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है। ज्ञान के द्वारा जो निर्णय किया था, उसका यह फल प्राप्त हुआ। ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से ऐसा फल अवश्य प्राप्त होता है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना, वह अपूर्व भाव है। वह हर एक मुमुक्षु का नितांत कर्तव्य है। देखो, अमुक शुभराग करना, उसे कर्तव्य न कहा, परंतु ज्ञान में आत्मा का निर्णय करना, उसे कर्तव्य कहा; ज्ञानभाव ही स्वानुभव का साधन है, बीच में होनेवाला राग, वह कुछ साधन नहीं है। ऐसे सत्य साधन के द्वारा जो अपने आत्मा का हित करना चाहे, वह कर सकता है। परंतु जीव ने अनादिकाल से अपने हित की परवाह ही नहीं की। हे भाई, तू स्वयं कौन वस्तु है? यह जाने बिना तू सुख कहाँ से लायेगा? और सम्यक्दर्शन किसका करेगा? प्रथम तो यह निर्णय कर ले कि मैं तो ज्ञानस्वभावी ही हूँ। देह या रागस्वरूप मैं नहीं हूँ। ऐसा निर्णय करते ही तेरा लक्ष अपने आत्मा की ओर जायेगा और तेरा निधान तुझे तेरे में ही दिखेगा। भगवान महावीर के संदेशरूप जो सम्यग्दर्शन–वह तेरे को प्रकट होगा।

इंद्रिय और मन के साथ संलग्न जो उपयोग है, वह आत्मा को प्रसिद्ध नहीं कर सकता, वह मात्र पर को ही प्रसिद्ध करता है। मन और इंद्रियों से विमुख होकर आत्मा में अंतर्मुख होनेवाला उपयोग ही भगवान आत्मा को प्रसिद्ध करता है... सच्चे स्वरूप में उसका दर्शन (सम्यक्–दर्शन) कर लेता है। यही आत्मअनुभूति है, यही शुद्धनय है, यही अपूर्व चेतना और धर्म है और यही भगवान महावीर का संदेश है। इसके ही द्वारा भव का अंत आता है और मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। किसी भी शुभराग से वह शक्य नहीं। सम्यग्दर्शन तो आत्मा का सहज स्वभाव है। अन्य किसी का अवलंबन उसमें नहीं है।

शुभ–अशुभभाव तो अज्ञानी जीव भी अनादिकाल से करता आया है; वह कहीं धर्म का उपाय नहीं है या उससे भव का अंत नहीं होता। परंतु उस शुभ–अशुभभाव से रहित ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहिचान करना ही धर्म का उपाय है और इसके द्वारा ही भव का अंत होता है।

❀ सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है?

❀ सम्यग्दर्शन होते ही आत्मा के स्वरस की अपूर्व शांति अनुभव में आती है। कषायरहित शांति में उपयोग लीन होकर आत्मा का सहज आनंद प्रकट होता है। अनादि से भवदु:ख की जो भयंकर अशांति थी, वह मिट जाती है, और अपूर्व शांतिमय चैतन्य–जीवन का प्रारंभ होता है। अंतर में आत्मा अपने स्वरूप की कोई परम तृप्ति के सुख का वेदन करता है। मेरा सुख मेरे ही अंतर में भरा पड़ा है—इसप्रकार उसे अतीन्द्रिय सुख के अनुभव सहित प्रतीति

होती है। सम्यग्दृष्टि जीव के परिणाम में कोई अचिंत्य अपूर्व गांभीर्य होता है। उसकी गहराई का नाप ऊपरी दृष्टि से नहीं हो सकता। ऐसा जो सम्यग्दर्शन है, वह अभेदरूप से आत्मा ही है।

सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभिन्न हैं। आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनस्वरूप है। ऐसे सम्यग्दर्शन से ज्ञानस्वभावी आत्मा को अनुभव में लेने के बाद अशुभ या शुभ कषायभाव तो होते हैं, परंतु आत्मशांति तो ज्ञानभाव में ही है, ऐसा निश्चय बना रहता है। ज्यों-ज्यों ज्ञानभावना बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों शुभाशुभ कषायभाव भी नष्ट होते जाते हैं और शांति का वेदन बढ़ता जाता है। अंतर में शांतरस की ही मूर्ति आत्मा है, उसके लक्ष से जो वेदन होता है, वही सुख है, और ऐसे सुख का वेदन सम्यग्दर्शन में है। एक अखंड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव, वही सम्यग्दर्शन है।

ऐसा अपूर्व शांति स्वरूप सम्यग्दर्शन जयवंत हो।

❀❀❀❀

न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षिप्तौ कदाचन क्षिप्रमपि प्ररोहति।

सदाप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं कुदर्शने तद्विपरीतमिष्यते।

अर्थ :— सम्यग्दर्शन की भूमि पर गिरे हुए दुःख के बीज कभी उगते नहीं हैं परंतु उस पर सुख के उत्तम बीज बिना बोए भी उगा करते हैं। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन की भूमि पर बोए हुए सुख के बीज कभी उगते नहीं हैं, प्रत्युत दुःख के बीज बिना बोए हुए ही उगते हैं।

(सागारधर्मामृत : पृष्ठ २५)

❀❀❀❀

❀ गतांक में जो दो पहेलियाँ दी गई थी इनके उत्तर ये हैं — (१) स्वाध्याय (२) जिनवाणी। किसी-किसी ने दूसरी तरह का भी अच्छा उत्तर भेजा है।

❀ मेरी सूचना के अनुसार कई सज्जनों ने आत्मधर्म में हिन्दी भाषा की क्षतियाँ लिखकर भेजी हैं, वह मैंने लक्षगत की है और सभी का आभार मानता हूँ। (—संपादक)

❀ स्वाध्यायप्रेरक योजना में एवं दोनों पहेलियों में बहुत जिज्ञासुओं ने भाग लिया है, उन सभी को धन्यवाद! इस अंक में मैं यह विभाग नहीं दे सका हूँ; अगले अंक में डबल दिया जायेगा।

सिद्धवरकूट सिद्धिधाम में सिद्धभक्ति

संवत् २०१३ में सिद्धवरकूट सिद्धिधाम की अति उल्लासपूर्ण यात्रा के समय वहाँ पूज्य कानजीस्वामी का प्रवचन हुआ था। सिद्धिधाम के उपशांत वातावरण में सिद्ध भगवंतों के प्रति हृदय की जो भक्ति-ऊर्मियाँ उल्लसित हुई थी, उसके स्मरण से आज भी रोमांच हो रहा है। प्रवचन में स्वामीजी ने कहा—

देखो, यह 'सिद्धवरकूट' तीर्थ है। 'सिद्ध-वर-कूट!' अहा! सिद्ध भगवंत जगत के उत्कृष्ट शिखर समान हैं। ऐसे उत्कृष्ट शिखर समान सिद्धपद को करोड़ों जीवों ने यहाँ से प्राप्त किया है। अतः यह 'सिद्धवरकूट' है। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य भी ऐसा मनोहर है, मानों चारों ओर मुनिवर ध्यान में बैठे हों। दो चक्रवर्ती, दस कामदेव और साढ़े तीन करोड़ मुनिवर यहाँ से मोक्ष पधारे हैं, वे ठीक इसी स्थान के ऊपर लोकाग्र सिद्धालय में विराजमान हैं।

अहा, सिद्ध भगवंतों! आपको नमस्कार हो। 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' ऐसा कहकर समयसार के मंगलाचरण में भी आचार्यदेव ने समस्त सिद्ध भगवंतों को अपने में तथा श्रोताओं के आँगन में बुलाकर उन्हें नमस्कार किया है। अहा, सिद्धभगवंत तो अक्रिय चैतन्यबिम्ब हैं, उन्हें शांतपरिणति प्रगट हो गई है, अपने मस्तक के ऊपर समश्रेणी लोक के उत्कृष्ट स्थान में वे विराजमान हैं। सिद्ध भगवंत लोक के अग्रेसर हैं, इसलिये लोक के सिर पर विराजमान हैं। यदि वे लोक के अग्रेसर नहीं होते तो लोक के ऊपर क्यों विराजते? साधकों ने अनंत सिद्ध भगवंतों को अपने सिर के ऊपर विराजमान किया है... अर्थात् उत्कृष्ट ध्येयरूप से हृदय में स्थापित किया है। इसप्रकार 'सिद्ध' भगवंत 'वर' अर्थात् उत्कृष्ट 'कूट' अर्थात् शिखर है। इसप्रकार सिद्ध भगवान में 'सिद्ध-वर-कूट' का भावार्थ लागू किया। ऐसे सिद्ध भगवंतों को पहिचान करके ध्येयरूप से अपने आत्मा में उन्हें स्थापित करो अर्थात् अपने आत्मा को सिद्धि के मार्ग में परिणमित करो, वही सिद्धिधाम की परमार्थ यात्रा है।

देखो, यहाँ के चारों ओर का दृश्य भी कितना सुंदर है। मोक्ष के साधक मुनि ऐसे धाम में रहते हैं, और चैतन्य की साधना में मग्न रहते हैं। वाह, धन्य वह मुनिदशा! भूतकाल में ऐसे

वनजंगल में रहकर मुनिगण कारणपरमात्मा का ध्यान करते थे... और केवलज्ञान पाकर मोक्ष प्राप्त करते थे। प्रत्येक आत्मा स्वयं ऐसा कारणपरमात्मा है। जब अंतर्मुख होकर स्वयं अपना ध्यान करे, तब सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। अंतर में कारणपरमात्मा का ध्यान कर-करके अनंत जीव सिद्ध हुए हैं और होवेंगे।

जिसप्रकार बड़वानी तीर्थ में चूलगिरि पर्वत में आदिनाथ भगवान की विशाल मूर्ति मूल पर्वत में से ही टंकोत्कीर्ण की गई है, वह कहीं बाहर से नहीं लायी गयी है; उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा चूलगिरि जैसा कारणपरमात्मा है; उसके स्वभाव में से सिद्धपद प्रगट होता है, सिद्धपद बाहर से नहीं आता। सनतकुमार और मधवा ये दोनों चक्रवर्ती छह खंड के राज्य को क्षणमात्र में छोड़कर मुनि हुए और आत्मा को ध्याकर यहाँ से सिद्धपद को प्राप्त हुए; इसीप्रकार दस कामदेव और करोड़ों मुनिवर इसी क्षेत्र से सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं, उन सबके अंतर में 'कारण' रूप जो स्वभाव था, उसका ध्यान करके वे कार्यपरमात्मा (सिद्ध) हुए हैं। और उसकी प्रतीति करनेवाले इस जीव को भी स्वभाव में अंतर्मुखता होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सिद्धि का मार्ग प्रगट हुआ है। ऐसे मार्ग से अनंत जीव सिद्धपुरी में पहुँचे हैं; और आज भी सिद्धपुरी का वही मार्ग भगवान महावीर के शासन में चल रहा है।

साधकभाव प्रगट करके सिद्धपद का यात्री कहता है कि अहा सिद्धभगवंतों! मैं आपको मेरे आँगन में आमंत्रित करता हूँ। पूर्णानंद को प्राप्त हुए सिद्ध परमात्मा को अपने आँगन में आमंत्रित कर धर्मी जीव अपनी जिम्मेदारी सहित कहता है कि हे सिद्धभगवंत! मेरे आँगन में पधारो... पधारो...

'तेरा आँगन कितना?'—तो साधक कहता है कि जिसमें अनंत सिद्धभगवान का समावेश हो उतना!

आओ आओ श्री सिद्धभगवान मेरे घर आओ रे,
अहो भक्तवत्सल भगवंत... नाथ! पधारो रे!
अंतर्मुख कर मम ज्ञान स्वागत करता हूँ;
मेरे अंदर सिद्ध को देख शिवपुर चलता हूँ!

इसप्रकार साधक धर्मात्मा अपने अंतर के आँगन में सिद्धभगवान को स्थापित कर स्वयं भी सिद्धपद को साधता है। यही है सिद्धिधाम की अपूर्व यात्रा। ●●

वीर निर्वाण महोत्सव में वीरबालकों का उत्साह

'अहो, हमारे भगवान का ढाईहजार वर्षीय निर्वाण महोत्सव मनाने का यह महान सुअवसर हमें मिला है'—ऐसे उल्लासभाव के साथ जैनसमाज का बच्चा-बच्चा निर्वाण महोत्सव में जो सुंदर सहयोग दे रहे हैं, उसे देखकर हमें हर्ष होता है। उत्सव के निमित्त अनेक बालकों ने ढाई हजार पैसे (२५,००) आत्मधर्म-बालविभाग की योजना में भेजे हैं, उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं।

५२१ तरंगिणी चारुचंद्र सेठ, अहमदाबाद
५२२ नीखिलेश चारुचंद्र सेठ, अहमदाबाद
५२३ छोटालाल लल्लुभाई अजमेरा,दामनगर
५२४ जीतेन्द्र नागरदास मोदी, सोनगढ़
५२५ चिराग नवनीतलाल जोबालिया, अहमदाबाद
५२६ शिषिर एस.संघवी, पूना
५२७ इंद्रवदन केशवलाल शाह, मालावाडा
५२८ विनोदकुमार जैन, मुरादाबाद
५२९ बालमुकुंद शिखरचंद जैन, दिल्ली
५३० दर्शनबाला जैन, दिल्ली
५३१ ताराचंद जैन, दिदादरा
५३२ मिश्रीलाल जैन, करेरा
५३३ विनोदकुमार श्रीराम जैन, दिल्ली
५३४ अजितकुमार चिमनलाल जैन, पादरा
५३५ इलाबेन शांतिलाल शाह, कलकत्ता
५३६ दिपेन शांतिलाल शाह, कलकत्ता
५३७ देवेस शांतिलाल शाह, कलकत्ता
५३८ अंजनाबेन शांतिलाल शाह, कलकत्ता
५३९ चंद्रिकाबेन जैन, कलकत्ता
५४० मुक्ताबेन सेठ, कलकत्ता
५४१ वर्षाबेन मनसुखलाल जैन, कलकत्ता
५४२ जयेश मनसुखलाल जैन, कलकत्ता
५४३ पारुल छबीलदास जैन, कलकत्ता
५४४ अमिताबेन छबीलदास जैन, कलकत्ता
५४५ जीतेश छबीलदास जैन, कलकत्ता
५४६ मंजुलाबेन भाईलाल बोरा, कलकत्ता
५४७ सुरेशभाई देसाई, कलकत्ता
५४८ राजेन्द्रकुमार कनैयालाल जैन,कलकत्ता
५४९ मालाबेन चंदुलाल मेघाणी, कलकत्ता
५५० जयेश चंदुलाल मेघाणी, कलकत्ता
५५१ दिलीपभाई जैन, कलकत्ता
५५२ अश्विनभाई जेन, कलकत्ता
५५३ भारतीबेन जैन, कलकत्ता
५५४ अतुलभाई जैन, कलकत्ता
५५५ कल्पनाबेन जैन, कलकत्ता
५५६ मिताबेन जैन, कलकत्ता
५५७ निशाबेन जैन, कलकत्ता
५५८ अमिताबेन जैन, कलकत्ता
५५९ प्रकाशचंद्र मनसुखलाल जैन, कलकत्ता

५६० सुधाबेन संघवी, कलकत्ता
५६१ दिलीप संघवी, कलकत्ता
५६२ समरतबेन संघवी, कलकत्ता
५६३ भानुभाई देसाई, कलकत्ता
५६४ दयाकुंवरबेन देसाई, कलकत्ता
५६५ आशाबेन देसाई, कलकत्ता
५६६ महेन्द्र देसाई, कलकत्ता
५६७ जितेन्द्र देसाई, कलकत्ता
५६८ अरुणाबेन देसाई, कलकत्ता
५६९ नीलम हसमुखलाल जैन, कलकत्ता
५७० चुन्नीलाल जेठालाल शाह, कलकत्ता
५७१ समजुबेन शाह, कलकत्ता
५७२ केसरबेन शाह, कलकत्ता
५७३ चंद्रिकाबेन जैन, कलकत्ता
५७४ पद्माबेन जैन, कलकत्ता
५७५ किरीट जैन, कलकत्ता
५७६ सुभाष जैन, कलकत्ता
५७७ चंद्रकांत चुन्नीलाल शाह, कलकत्ता
५७८ तरुलताबेन शाह, कलकत्ता
५७९ मीनाक्षीबेन जैन, कलकत्ता
५८० मुकेश जैन, कलकत्ता
५८१ नितिन जैन, कलकत्ता
५८२ रंजनबेन जैन, कलकत्ता
५८३ हेमलताबेन जैन, कलकत्ता
५८४ भंवरदेवी जैन, कलकत्ता
५८५ इंदिराबेन मनसुखलाल शाह, ''
५८६ अरुणाबेन छबीलदास जैन,कलकत्ता
५८७ विपिन शांतिलाल शाह, कलकत्ता
५८८ योगेशचंद्र, राजेशचंद्र जैन, अलीगंज
५८९ अजीतकुमार चीमनलाल जैन, पादरा
५९० रसिकलाल नागरदास मोदी, बम्बई
५९१ लीलावंतीबेन बृजलाल मोदी, बम्बई
५९२ रश्मीकांत बृजलाल मोदी, बम्बई
५९३ पूर्णिमाबेन रश्मीकांत मोदी, बम्बई
५९४ इंदिराबेन जमनादास शाह, बम्बई

[इसके उपरांत अम्बेशकुमार रमणिकलाल जैन बम्बई की ओर से रुपये १०१ आत्मधर्म के प्रचारार्थ आये हैं।] [दिनांक २९-३-७५]

* **श्री जैन विद्यार्थीगृह :** सोनगढ़ की ओर से सूचित किया जाता है कि इसमें प्रवेश होने के इच्छुक कोई भी जैनबंधु ५० पैसे की टिकट भेजकर प्रवेश पत्र मंगा ले और तारीख २०-५-७५ तक सोनगढ़ भेज दें। पाँचवीं कक्षा से लेकर ११ वीं (S.S.C) तक के विद्यार्थियों को प्रवेश मिलता है। मासिक भोजन फीस रुपये ६०.०० (पूरी फीस वाले का) है; तथा मध्यम स्थितिवाले विद्यार्थी के लिये कमती फीस ३५.०० है। विद्यार्थियों को धार्मिक संस्कार भी दिया जाता है। मंत्री, जैन विद्यार्थीगृह, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विविध समाचार

❀ बीना बजरिया से समाचार है कि पूज्य श्री कानजीस्वामी पधारे तथा आनंदोत्सवपूर्वक जिनमंदिर पर कलश चढ़ाया गया। अच्छी प्रभावना हुई।

❀ दिल्ली में गुजरात का धर्मचक्र संघसहित तारीख १२ मार्च को पधारने पर अत्यंत भव्य स्वागत हुआ था; विशाल धर्मसभा का आयोजन हुआ जिसमें भगवान महावीर के धर्मचक्र का महत्व समझाया गया; केंद्र सरकार की ओर से महावीर जन्मजयंती की छुट्टी घोषित की गई है। धर्मचक्र की भव्य शोभायात्रा निकाली गई–जिसमें रथ–हाथी–झाँकियाँ–भजनमंडलियाँ–बैंड–शहनाई–शोभा बढ़ा रहे थे, हेलिकॉप्टर से पुष्पवृष्टि हुई तथा समस्त बाजार बहुत सुंदर सजाये गये थे... सारी राजधानी भगवान महावीर के जयकारनाद से गूँज रही थी। महावीर–धर्मचक्र का प्रभाव देखकर सभी को प्रसन्नता होती थी।

श्री धर्मचक्र यात्रासंघ सकुशल सम्मेदशिखरधाम में पहुँचकर अष्टाह्निका सिद्धचक्र विधान तथा मंगल तीर्थयात्रा करके कलकत्ता की ओर प्रस्थान कर चुका है।

❀ पूज्य गुरुदेव सकुशल प्रवास करते हुए तारीख ५–४–७५ को मद्रास पहुँच रहे हैं; इसके बाद बेंगलोर में चैत्र सुद १ से १३ (तारीख ८–४–७५ से २३–४–७४ तक) पधारेंगे और वहाँ जिनमंदिर–समवसरण में पंचकल्याणक प्रतिष्ठामहोत्सव होगा। बाद में बम्बई होकर अहमदाबाद पधारेंगे।

❀ भारत में अभी ६ धर्मचक्र केन्द्रीय दिगम्बर जैन निर्वाणोत्सव समिति योजनानुसार प्रमुख नगरों एवं तीर्थक्षेत्रों में महावीरसंदेश का धर्मपचार करते हुए भ्रमण कर रहे हैं।

❀ **खजुराहो (छतरपुर, म.प्र.)** में तारीख ६ मार्च को गुजरात के महावीर धर्मचक्र संघ का आगमन हुआ; आनंदोल्लासपूर्वक सिद्धचक्रपूजन की पूर्णतादि उत्सव हुए। यहाँ के कलामय प्राचीन मूर्ति–मंदिर देखनेयोग्य हैं। धर्मचक्रसंघ का आगमन व उत्सव बहुत प्रभावशाली रहा।

❀ **खुरई (मध्यप्रदेश)** में दिनांक २–३–४ मार्च को नवनिर्मित मानस्तंभ में जिनबिंब प्रतिष्ठा महोत्सव आनंदपूर्वक संपन्न हुआ, जिसमें पूज्य श्री कानजीस्वामी भी पधारे थे। विशाल मैदान में महावीर–वैशालीनगरी बनाई गई थी, जहाँ प्रतिष्ठामहोत्सव हुआ। तदुपरांत धार्मिक मेले में झाँकियाँ–चित्रपट–भजन–नाटक–धर्मचक्रविहार इत्यादि भी दर्शनीय रहा।

—: धर्मचक्र प्रवर्तन और हमारा कर्तव्य :—

महावीर भगवान का धर्मचक्र आज सारे भारत में चल रहा है। दिल्ली शहर में तारीख १२-३-७५ के दिन गुजरात के महावीर-धर्मचक्र का आगमन होने पर, मानों फिर से महावीर भगवान ही पधार रहे हो, ऐसे महान उल्लासपूर्वक अति भव्य स्वागत किया गया। नगरी अच्छे ढंग से सजाई गई; विमान से पुष्पवृष्टि की गई। धर्मध्वज के साथ हाथी-घोड़े-ऊँट-बाजे-धार्मिक झाँकियाँ, भजनमंडलियाँ और हजारों भक्तजनों ने महावीरभगवान के धर्मचक्र के प्रति जो भक्ति एवं उत्साह व्यक्त किया, वह दर्शनीय था। आज सारे भारत के कौने-कौने में एवं विदेशों में भी तीर्थंकर महावीर जिनेश्वर की जो अपार महिमा प्रसिद्ध हो रही है, वह देखकर आनंद होता है... हमारे जीवन में यह एक अभूतपूर्व ऐसा सुंदर अवसर हमें मिला है कि हम सब जैन हृदय से एक होकर, हमारे महावीर भगवान के धर्मध्वज को विश्व के उन्नत गगन में लहरायें। अरे, महावीर के भक्त हम सब साधर्मी यदि एक-दूसरे के साथ में रहकर प्रेम से एक-दूसरे से नहीं मिलेंगे तो हमारे उत्सव की शोभा कैसे बढ़ेगी? आइए... हिलमिल एक होकर आनंद से उत्सव की शोभा बढ़ायें।

हम व्यवहारकुशल माने जानेवाले जैन लोग, लाखों रुपयों के खर्च से केस लड़कर, किसी जैनेतर न्यायाधीश के द्वारा अपने तीर्थों के बारे में दिये गये फैसले को मानने को तैयार हैं-परंतु आश्चर्य है कि हमारे ही शासननायक वीरनाथ भगवान के नाम पर आपस में एक-दूसरे से कोई अच्छा समाधान अभी तक नहीं कर रहे हैं। परंतु अब मौका आ चुका है—'वीतरागता ही सबसे श्रेष्ठ न्याय है—जो हमारे महावीर भगवान ने हमें सिखाया है। हम यह सीखेंगे और राग-द्वेष छोड़कर परस्पर प्रेम से हिल-मिलकर वीतरागमार्ग में आगे बढ़ेंगे!—और हम ऐसा करेंगे ही करेंगे। — जय महावीर!

हठाग्रह छोड़ दो... साधर्मी-प्रेम जोड़ दो!

❀ महावीर-धर्मचक्र प्रभावना के विशेष समाचार आहारजी तीर्थक्षेत्र, सम्मेदशिखरजी महातीर्थ, थूवौनजी, वाराणसी इत्यादि अनेक जगह से प्राप्त हो रहे हैं; कलकत्ता में बहुत उत्साह है। द्रोणगिरि में जब धर्मचक्र आया, तब आत्मसमर्पण करनेवाले मध्यप्रदेश के भूतपूर्व डाकू भूरतसिंह ने खुली जेल से अधिवेशन के मंच पर आकर भारी प्रसन्नता दिखाई, और धर्मचक्र का स्वागत किया। हृदय परिवर्तन का यह दृश्य रोमांचकारी था, और महावीर का धर्मचक्र सर्व जीव-हितकर है-यह प्रसिद्ध करता था।

युद्ध और वैराग्य

भगवान ऋषभदेव के दोनों पुत्र भरत तथा बाहुबली... दोनों चरमशरीरी; दोनों आत्मा के जाननहारे, बहादुर एवं वैरागी। मान-अपमान के प्रश्न पर दोनों भाई लड़े... एक बार लड़े... दो बार लड़े... तीन बार लड़े। सम्यक् आत्मा के ऊपर जिनकी दृष्टि है, ऐसे वे दोनों, एक-दूसरे के सामने दृष्टि लगाकर दृष्टियुद्ध लड़े... जिसमें भरत हार गये।

भवजल से तिरनेवाले वे दोनों भाई एक-दूसरे पर जल छिड़क कर जलयुद्ध लड़े... और भरतराजा उसमें भी हार गये।

अब, मोहमल्ल के जीतनेवाले दोनों भाईयों ने मल्लयुद्ध किया। उसमें भी बाहुबली ने भरतभाई को अपने कंधे पर उठाकर परास्त कर दिया।

'अरे! मैं चक्रवर्ती... और मेरा यह अपमान!' ऐसा सोचकर, तीनों युद्ध में परास्त भरत ने क्रुद्ध होकर, बाहुबली को मारने के लिये चक्र घुमाकर छोड़ा।—परंतु क्या हुआ?

असार... असार... रे संसार!

सुना सुना ये संसार!
असार असार रे संसार!

चेतनपद मेरा ही सार...
सुंदर जिसमें शांति अपार...

तीनों युद्ध में परास्त भरतचक्रवर्ती ने जब अपने भाई के ऊपर चक्र फैंका... तब चारों तरफ हा-हाकार मच गया... परंतु... जिसप्रकार शांति के सामने क्रोध की कुछ नहीं चलती उसीप्रकार वह चक्कर भी चरमशरीरी बाहुबली को कुछ भी न करता हुआ, शांत होकर वापस चला गया।

चक्र तो गया; परंतु युद्ध की परिस्थिति में तत्काल ही एक महान परिवर्तन आ गया।

विजेता बाहुबली का चित्त उसी क्षण संसार से विरक्त हो गया; वैराग्य से वे चिंतन करने लगे कि अरे! यह संसार कैसा असार है!-जिसमें पृथ्वी के एक टुकड़े के लिये या मान-अपमान के लिये भाई-भाई को मारने के लिये भी तैयार हो जाता है। अरे, कहाँ चैतन्यतत्त्व की परम शांति! और कहाँ कषाय की यह अशांति! बस! अब ऐसे अशांत संसारभाव में एक क्षण भी मैं नहीं रह सकता; मैं मेरे चैतन्य की अतीन्द्रिय शांति में ही रहूंगा... और मोक्षपद को साधूँगा।

इसप्रकार वैराग्य से संसार छोड़कर, बाहुबली गये सो गये... एक वर्ष तक आत्मध्या में रहकर केवलज्ञान प्रगट किया, और हमेशा के लिये संसार से मुक्त हो गये। धन्य उनका वैराग्य! धन्य उनकी वीरता!

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) फाल्गुन (३५९)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) प्रति ३०००